

## खण्ड 2

### रस और उसकी प्रक्रिया

ignou  
THE PEOPLE'S  
UNIVERSITY



---

## इकाई 7 साहित्यशास्त्र के अनुसार रस का स्वरूप

---

### इकाई की रूपरेखा

- 7.0 उद्देश्य
- 7.1 प्रस्तावना
- 7.2 साहित्यशास्त्र के अनुसार रस का स्वरूप
- 7.3 सारांश
- 7.4 शब्दावली
- 7.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 7.6 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

---

### 7.0 उद्देश्य

---

इस इकाई के अध्ययन से आप :

- रस के विषय में परिचित होंगे।
- रस के स्वरूप के विषय में परिचित होंगे।
- रस के अधिवास के विषय में परिचित होंगे।
- रसनिष्पत्ति के विषय में परिचित होंगे।

---

### 7.1 प्रस्तावना

---

संस्कृत काव्य शास्त्र से सम्बन्धित खण्ड दो की इस इकाई के अध्ययन पश्चात आप बता सकते हैं कि साहित्यशास्त्र के अनुसार रस का स्वरूप क्या है? इसके विषय में रसस्वरूप ब्रह्म और आनंदमय कहा गया है। आचार्यों ने काव्यानंद को ब्रह्मानंदसहोदर कहा है जिसका तात्पर्य यह है कि वह (काव्यानंद) ब्रह्मानंदस्वरूप अद्वैततत्त्व तो नहीं है, किन्तु उसके समतुल्य अवश्य है। 'ब्रह्मानंद' तो निर्विकल्प समाधि स्वरूप है जबकि काव्यानंद सविकल्प समाधि स्वरूप। जिनमें अपने हृदय की सत्त्वोद्रेकमयी अवस्था रहने तक ही रसानुभूति करता है। आचार्य विश्वनाथ ने रस के स्वरूप की विवेचना करते हुए उसे जिन विशेषणों से युक्त माना है, सांख्यदर्शन में रसास्वाद के लिए प्रकृति त्रिगुणात्मिका (रजोगुणी, तमोगुणी और सत्त्वगुणी) मानी गई है। इनमें सत्त्वगुण आत्मा के निर्मल स्वरूप का व्यंजक है। रस एक प्रकार की ऐसी आनंदमयी चेतना है जिसके टुकड़े नहीं किये जा सकते। उसकी स्थिति विभावादी से युक्त रहती है, जिनका पृथक्कीकरण सम्भव नहीं है। रस आत्मा के प्रकाश के ज्योतिषित होता है, जिसे तमोगुणी और रजोगुणी मेघ धूमिल नहीं कर सकते उसका आनंद आत्मा के आनंद से भिन्न नहीं होता, अतः उसे स्वप्रकाशानंद कहा गया है।

---

### 7.2 साहित्यशास्त्र के अनुसार रस का स्वरूप

---

भारतीय दर्शन में जब ब्रह्म को रसस्वरूप ब्रह्म और आनंदमय कहा गया तो काव्य का रस भी उससे हीन कोटि का कैसे माना जा सकता था? आचार्यों ने काव्यानंद को ब्रह्मानंदसहोदर कहा है जिसका तात्पर्य यह है कि वह (काव्यानंद) ब्रह्मानंदस्वरूप

अद्वैतत्व तो नहीं है किन्तु उसके समतुल्य अवश्य है। यही कारण है कि उसे उन सभी विशेषणों से संयुक्त माना गया है जो ब्रह्मानन्दसविध हैं। 'ब्रह्मानन्द' तो निर्विकल्प समाधि स्वरूप है जबकि काव्यानन्द सविकल्प समाधि स्वरूप। इसका अर्थ यह है कि निर्विकल्प समाधि स्थायी और शाश्वत होती है जबकि सविकल्प समाधि कालविशेष तक ही सीमित अर्थात् मर्यादित रहती है। काव्य की रसानुभूति तभी तक होती है जब तक अनुभविता रसदशा अथवा साधारणीकरण की स्थिति में रहता है। उसके लिए विशेष क्षण नियत हैं। जिनमें अपने हृदय की सत्त्वोद्रेकमयी अवस्था रहने तक ही रसानुभूति करता है। आचार्य विश्वनाथ ने रस के स्वरूप की विवेचना करते हुए उसे जिन विशेषणों से युक्त माना है, वे उनकी निम्नलिखित पंक्तियों में उल्लिखित हैं—

**सत्त्वोद्रेकः अखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।**

**वेद्यान्तरस्पर्शशून्यः, ब्रह्मानन्दसहोदरः।**

**लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चिद् प्रमातृभिः।**

**स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।।**

उपर्युक्त पंक्तियों में रस का स्वरूप सूत्रबद्ध किया गया है जिनका सरलार्थ इस प्रकार है—

1. **रस सत्त्वोद्रेकमय है** — सांख्यदर्शन में प्रकृति त्रिगुणात्मिका ( रजोगुणी, तमोगुणी और सत्त्वगुणी ) मानी गई है। इनमें सत्त्वगुण आत्मा के निर्मल स्वरूप का व्यंजक है जिसमें रागद्वेष अथवा अपने-पराये के तमोगुणी और रजोगुणी विकार नहीं रहते। रसास्वाद के लिए भी सत्त्वोद्रेक अर्थात् सत्त्वगुण के उद्रेक की अनिवार्यता रहती है अतः उसका स्वरूप सत्त्वोद्रेकपूर्ण माना गया है।
2. **रस अखण्ड है** — रस एक प्रकार की ऐसी आनन्दमयी चेतना है ( टुकड़े ) नहीं किये जा सकते। उसकी स्थिति विभावादी से युक्त रहती है जिनका पृथक्कीकरण सम्भव नहीं है। एक प्रकार से उसे आत्मानुभूति की अखण्डता अथवा पूर्णता कहा जा सकता है।
3. **रस स्वप्रकाशानन्द है** — रस आत्मा के प्रकाश के ज्योतिष होता है जिसे तमोगुणी और रजोगुणी मेघ धूमिल नहीं कर सकते उसका आनन्द आत्मा के आनन्द से भिन्न नहीं होता, अतः उसे स्वप्रकाशानन्द कहा गया है।
4. **रस चिन्मय है**— चिन्मयता आत्मा का धर्म है अतः रस आत्मस्वरूप है। उसमें शुद्ध बुद्ध आत्मा ही व्यक्त होती है और मन की मलिनता के लिए अवकाश नहीं रहता। जब तक यह अवस्था बनी रहती है, तब तक लौकिक सुखों की ऐन्द्रिय चाह अथवा लालसा नहीं होती।
5. **वह वेद्यान्तरस्पर्शशून्य है** — रसास्वाद अथवा काव्यानन्द की वेला में अन्य प्रकार के सभी ज्ञानों का अभाव रहता है। उस समय वेद्य अथवा संवेदनीय अनुभूति के अतिरिक्त ( वेद्यान्तर ) किसी भी प्रवृत्ति के स्पर्श की शून्यता अर्थात् एकमात्र आत्मपरता का भाव ही सहृदय के मन में रहता है। रसदशा में वह 'स्व' 'पर' तथा 'तटस्थ' दशा से विनिर्मुक्त हो जाता है।
6. **वह ब्रह्मानन्दसहोदर है** — काव्यानन्द और ब्रह्मानन्द प्रायः समतुल्य अथवा एक जैसे हैं। उनमें सविकल्प और निर्विकल्प समाधि का अंतर है। ब्रह्मानन्द में लीन व्यक्ति शाश्वत सुख का स्थायी अनुभव करता है जबकि काव्यानन्द उसी समय

तक प्राप्त रहता है जब तक उसका आस्वादयिता सहृदयजन साधारणीकरण की अवस्था में उसमें तन्मय रहता है।

7. **वह लोकोत्तर-चमत्कार-प्राण है** — रसनिष्पत्ति के क्षणों में व्यक्ति लौकिक सुखों की सीमा से ऊपर उठकर ऐसी लोकोत्तर दशा में पहुँच जाता है, जहाँ विषयभोगों के इन्द्रियजनित सुखों की पहुँच नहीं होती। उसकी आत्मचेतना इतनी अधिक चमत्कारमयी होती है कि उसे अनिर्वचनीय तक कहा जा सकता है। अपनी अलौकिकता के कारण ही वह 'लोकोत्तरचमत्कारप्राण' मानी गई है।
8. **वह स्वाकारवदभिन्न है**— इसका तात्पर्य यह है कि रस स्वाकारवत् अर्थात् अपने ही स्वरूप के समान अभिन्न अर्थात् एकरूप है। उसमें और आत्मा के गुणों में कोई अंतर नहीं रहता। रसदशा में पहुँच कर आस्वद और आस्वाद्य एक हो जाते हैं अर्थात् विषय और विषयी में कोई अंतर नहीं रह पाता।

पण्डितराज जगन्नाथ ने आनंद की तीन कोटियाँ मानी हैं— 1. विषयानंद 2. ब्रह्मानंद और 3. काव्यानंद।

'विषयानंद' में लौकिक सुखों की गणना होती है जो चैतन्याभास से आभाषित अंतःकरण की वृत्तियों के विषयों के साथ संयोग होने से उत्पन्न होता है। यह सुख इन्द्रियजनित उपकरणों का सुख है।

'ब्रह्मानंद' में समस्त सांसारिक उपाधियों का नाश हो जाता है और केवल चैतन्य स्वरूप का भाव ही ब्रह्मानंद में लीन रहता है।

'काव्यानंद' में रत्यादि भावों की उपाधि बनी रहने के कारण वह सोपाधिक अवश्य होता है किंतु उसमें भी चैतन्य स्वरूप ही आभासित रहता है; अतः वह लौकिक सुखों से भिन्न और ब्रह्मानंद की तुलना में अस्थायी है। विश्वनाथ ने रसविषयक जिन आठ गुणों का उल्लेख अपने सूत्रों में किया है, वे सब काव्यानंद की स्थिति और अनुभूति ही व्यक्त करते हैं।

भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में विभावादि सामग्रीयों से स्थायी भाव रस रूप में अनुभूत होता है। यह मौलिक तथ्य बड़े ही स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया गया है। उनका रससूत्र निश्चित रूप से शताब्दियों पूर्व से आ रही रस से सम्बद्ध गम्भीर चिन्तन को समाहित किये हुए हैं। रस से सम्बद्ध अनेक तथ्यों का पूर्ण विवेचन भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध हो जाता है। अद्यावधि भरत के उन मूल वक्तव्यों को ही आधार बनाकर आचार्यों ने रस के विषय में सूक्ष्म विचार किया है। भरत के नाट्यशास्त्र में रस का एक मौलिक स्वरूप हमें प्राप्त हो जाता है। किन्तु वह रस लौकिक गुडादि व्यंजनों से निर्मित षाड्व रस के दृष्टान्त के आधार पर एक पदार्थ के रूप में ही था। यद्यपि उसमें पूर्ण मनोवैज्ञानिकता छिपी हुई है। भरत के पश्चात् अलङ्कारवादी आचार्यों ने रस के ऊपर कोई स्वतन्त्र विचार न कर उसे अलङ्कारों की कोटी में रखकर रस को नितान्त स्थूल तत्त्व के रूप में देखा। अलङ्कारों के समान वाच्यकोटी में रखकर अलङ्कारवादी आचार्यों ने रस के महत्त्व को एक तरह से क्षीण कर दिया था। आनन्दवर्द्धन के कुछ शताब्दी पूर्व से ही भरत के रससूत्र की व्याख्या करने वाले आचार्यों की परम्परा चली आ रही थी, जिसमें सर्वप्रथम भट्टलोल्लट का नाम आता है। भट्टलोल्लट से आरम्भ कर पण्डितराज तक के आचार्य जिन्हें हम ध्वन्युत्तरवर्ती काल के आचार्यों में स्थान दिये हैं भरत मुनि के रससूत्र के उपर विचार करते हुए रस से सम्बद्ध अनेक प्रश्नों, जैसे रस का वास्तविक

स्वरूप क्या है ? रस की स्थिति क्या होती है ? सहृदय में , नट में , अनुकार्य में , ? रस की अनुभूति की प्रक्रिया क्या है ? रस का काल के अन्य तत्वों से क्या सम्बन्ध है — का सम्बन्ध कर उसकी व्यापक सैद्धान्तिक विवेचना की है। यह विवेचन पण्डितराज तक पूर्ण हो जाता है। हम इस अध्याय के अन्तर्गत ध्वन्युत्तरवर्ती काल के आचार्यों के विचारों की पृष्ठभूमि में विशेष रूप से रस —स्वरूप का भी अवलोकन करेंगे।

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी अभिनवभारती में तथा मम्मट ने काव्य प्रकाश ने भट्टलोल्लट का उपस्थापन किया। भट्टलोल्लट का कोई स्वतंत्र ग्रन्थ अब तक उपलब्ध नहीं हो सका है।

भट्टलोल्लट के मत में रस की स्थिति लगभग वस्तुवादी पूर्वाचार्यों जैसी ही है। भट्टलोल्लट की स्थिति अनुकार्य तथा अनुकर्ता दोनों में ही स्वीकार करते हैं। उसके अतिरिक्त तृतीय बिन्दु सहृदय में रस की स्थिति के सम्बन्ध में उन्होंने कोई विचार नहीं किया। वास्तव में भट्टलोल्लट की दृष्टि में रङ्गमंच था, इसलिए उनका यह निरूपण भी नाट्यशास्त्र की दृष्टि से ही सामने आया। इनके अनुसार स्थायीभाव, जो प्रत्येक व्यक्ति में वासनारूप से रहते हैं, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट होकर रस बन जाते हैं।

मम्मट के मत को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अभिनवभारती में जहां भट्टलोल्लट के मत में अनुकार्य तथा अनुकर्ता में रस की स्थिति मानी गई है। वहीं आचार्य मम्मट सामाजिक द्वारा प्रतीयमान रस का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों से रत्यादि स्थायीभाव उद्बुद्ध हो जाता है, आश्रय पात्र के कार्य अनुभावों के द्वारा सामाजिक के लिये प्रतीतियोग्य बनता है और व्यभिचारियों के द्वारा परिपुष्ट होकर वह 'रस' बन जाता है। यह रस मुख्यतः अनुकार्यगत होता है, किन्तु सामाजिक तद्रूप अनुसन्धान के बल पर नटगत रूप में उस रस की प्रतीति करता है।

मम्मट तथा अभिनवगुप्त द्वारा उपस्थापित भट्टलोल्लट का मत यद्यपि स्थूल दृष्टि से ही रस की व्याख्या करता है। फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से इस मत का अपना महत्व है। लोल्लट की इस व्याख्या को मीमांसा दर्शन के अनुसार कहा जाता है। अभिनवभारती के एक विशेष स्थल पर लोल्लट के वचन में मीमांसा के तत्व होने के आधार पर डॉ० पी० वी काणे का अनुमान है कि लोल्लट मीमांसक थे।

### भट्टनायक

रससूत्र के तृतीय व्याख्याता आचार्य भट्टनायक हैं। ये सांख्यदर्शन से प्रभावित आचार्य प्रतीत होते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि त्रिगुणात्मिक प्रकृति का प्रपञ्च मात्र है निर्विकल्प पुरुष भी यहाँ प्रकृति के त्रिगुणमय माध्यम से अपने विभिन्न स्वरूपों को प्रकाश में लाता है। सांख्यकल्पित प्रकृति के त्रिगुणात्मस्वरूप में सत्त्व प्रीति का, रज अप्रीति का तथा तम विषाद का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं ।

### रस का अधिवास :

मूलतः रस सहृदय जैन के चैतन्य में अधिष्ठित रहता है जो सरस काव्यकृतियों से जुड़कर उसी प्रकार अभिव्यक्त हो जाता है जिस प्रकार काष्ठ ( लकड़ी ) में अंतर्निहित अग्नि बाहर की अग्नि से सम्पृक्त होकर उद्दीप्त हो जाती है। उसे उद्दीप्त करने अथवा जगाने की क्षमता बाहर की चिन्गारियों में अवश्य होनी चाहिए तथा काष्ठ में भी

उसे ग्रहण करने के गुणों का समावेश रहना चाहिए।। इसी उदाहरण की भाँति आवश्यक है कि काव्यरस के आस्वादयिता के लिए अंतःकरण में भी सत्त्वोद्रेकता के वे सभी तत्त्व समाहित होने चाहिये जिनसे वह रस के ग्रहण रूप में प्रस्तुत काव्यकृति का अर्थबोध करते हुए उसके व्यंग्यार्थ तक पहुँच सके। अभिधा से व्यंजना ( ध्वनि ) तक पहुँचने के बीच में विभावन—व्यापार अथवा 'साधारणीकरण' सेतु का काम करता है। जब तक आस्वादयिता का अंतःकरण साधारणीकृत नहीं होता तब तक वह काव्यकृतियों में अभिव्यंजित संवेदनाओं के साथ अपना तादात्म्य नहीं कर लेता। इस कार्य में काव्यकृति की रसोद्रेककारिणी क्षमता और काव्यरसिक की ग्राहिका शक्ति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध से जुड़ी रहती हैं। दोनों में विषयी—विषय—भाव का सम्बन्ध रहता है। भट्टनायक ने रसनिष्पत्ति के लिए 'विषयवस्तु' की उदात्तता को अधिक महत्व दिया है तो अभिनवगुप्त ने कवि की प्रतिभा अथवा सृजनशक्ति को विशिष्ट गुरुता प्रदान की है। उनके मतानुसार कवि की प्रतिभा में ही ऐसी निर्माणशक्ति निहित रहती है जिसके बल पर वह सामान्य विषयों को लेकर भी असाधारण काव्य की रचना कर सकता है। 'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है' कहना सत्य का एक पक्ष अवश्य है, किन्तु 'कोई कवि बन जाय, सम्भाव्य है' कि उक्ति पूर्ण सत्य के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती। वस्तुतः 'रसनिष्पत्ति' कराने के लिए कवि की कृति की ही प्रधानता रहती है जो लोकहृदय के साथ रमकर अपना एक ऐसा विशाल और भव्य आकार धारण कर लेती है जिसमें अधिक से अधिक सहृदयजनों को रसलीन करने की क्षमता रहती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि उस रससागर में निमग्न होना अथवा उसका आनन्द उठाने के लिए आस्वादयिता का मानस भी तदनु रूप समक्ष होना चाहिए। इस प्रकार 'कवि', 'काव्य', और 'रसिक' ये तीनों एक ही प्रकार की मानसिकता में तल्लीनता पाकर रस की आनंदवस्था का 'त्रिक' अथवा 'संगम' स्थापित कर सकते हैं।

रस का अधिवास अथवा निवास कहाँ है, यह एक अत्यंत ही जिज्ञासापूर्ण प्रश्न है। भरतमुनि ने अपने रसनिष्पत्तिसूत्र में रस के जिन अवयवों ( विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव ) को लेकर उनके संयोग से रसनिष्पत्ति होने की जो बात कही है, वह मूलतः 'नाट्य रस' से ही सम्बन्धित है। इसका अभिप्राय यह है कि जब आश्रय के हृदय में अवस्थित सुषुप्त स्थायी भाव का संयोग विभाव अथवा रस के 'आलंबन' के साथ होता है तो वह आलंबन की चेष्टाओं तथा अनुकूल वातावरण और परिस्थिति से उदीप्त होकर रसदशा की ओर आगे बढ़ता है जिसके अंतराल में अनेक प्रकार के अनुभाव उसकी शारीरिक और मानसिक अंतर्दशाओं की अनुभूति के प्रभावजन्य लक्षण प्रकट करते हुए उसे रसक्षेत्र की दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं। इस यात्रा में उसके मन में क्षणिक स्थिति वाले अनेक प्रकार के व्यभिचारी अथवा ससंचरणशील भाव की उत्पन्न होते और मिटते रहते हैं, किन्तु वसे स्थायीभाव के प्रभुत्व को क्षीण तथा विलीन नहीं कर सकते। आश्रय के हृदय का स्थायी भाव क्रमशः आगे बढ़ता हुआ अपनी प्रधानता बनाये रखता है जो रस के सभी अवयवों से संपुष्ट होकर अंततोगत्वा रस रूप में निष्पन्न अथवा परिणत हो जाता है। इस प्रकार स्थायी भाव की यह निष्पादित परिणति ही 'रस' नाम से जानी जाती है।

### रसनिष्पत्ति :

भरतमुनि ने रसनिष्पत्ति का सूत्र निम्नलिखित रूप में निर्दिष्ट किया है :-

**'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'।**

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

इस सूत्र में 'विभावादी' के संयोग से रस की निष्पत्ति मानी गई है किन्तु प्रश्न यह है कि इनका संयोग किसे अथवा किनसे होने पर रस निष्पन्न होता है, इसका उल्लेख इसमें नहीं किया गया है।

यह उल्लेख भले न किया गया हो, किन्तु यह तथ्य भी स्पष्ट है कि उनका संयोग, आश्रय (जिसके हृदय में रस की निष्पत्ति होती है) के स्थायी भावों के साथ ही होता है जो विभावादी के संयोग अथवा सम्मिश्रण से 'रस' रूप में निष्पन्न अथवा परिणत हो जाते हैं।

भरतमुनि ने लिखा है—

**'रस इति कः पदार्थः। उच्यते—आस्वाद्यत्वात्।'** अर्थात् रस कौनसा पदार्थ है? उत्तर है कि वह आस्वाद्यता से युक्त है अर्थात् उसका आस्वादन किया जाता है या स्वाद लिया जाता है।

अपने कथन को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार अनेक प्रकार के व्यंजनों से तैयार किये गये अन्न को खाने वाले व्यक्ति उसके रस का स्वाद लेकर आनंदित होते हैं, उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों के अभिनय से व्यंजित स्थायीभावादि का प्रत्यक्ष दर्शन कर सहृदय प्रेक्षक उनसे हर्षादि की अनुभूति करते हैं जिन्हें 'नाट्यरस' कहा जाता है। यह नाट्य रस ही कालांतर में काव्यरस के रूप में विवेचित किया गया जिसकी विवेचना तो नाट्याश्रित ही रही, किन्तु उसे दृश्य काव्य तक ही सीमित न रख कर श्रव्य काव्य के रसास्वादन के लिए सहृदय सामाजिक अथवा काव्यरस के अनुभविता सहृदय पाठकों की विशेष प्रतिष्ठा की गई जिसकी भूमिका में कवि, काव्यकृति, पाठक (काव्यरसिक) अथवा सामाजिक अपने-अपने क्षेत्रों में अपनी सापेक्षिक महत्ता के अनुसार विवेचित हुए।

**रससूत्र के प्रमुख तथ्य :**

भरतमुनि ने रसनिष्पत्ति सूत्र के द्वारा जो तथ्य उजागर किये गये हैं, उनसे 'रस के अधिवास' के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

1. रस का मूल अधिवास तो उन मूल पात्रों (दुष्यंत और शकुंतला आदि) के हृदय में माना जाना चाहिए जिनका अभिनय अभिनेताओं (नट और नटी आदि) द्वारा किया जाता है। अपनी अभिनयकला अथवा नाट्यनिपुणता के कारण वे उन्हें हूबहू अथवा असली रूप में अभिनीत करने की चेष्टा करते हैं जिसके लिए उनकी मानसिकता में भी तद्रूपता सी आ जाती है। इस तद्रूपता में वे भी स्वयं को मूल पात्र समझने के भ्रमवश उन्हीं के समान भावों का आरोपण अपने भीतर करने लगते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि उनकी मानसिकता से भी रस का सम्बन्ध जुड़ जाता है। अतः व्यावहारिक दृष्टि से यत्किंचित् रूप में उनके हृदय में भी रस का अधिवास मान लिया जाता है। यदि वे मूल पात्रों के साथ तद्रूपता की अनुभूति न कर सकें तो उनके अभिनय में वांछित कला अथवा निपुणता नहीं आ सकती।

2. रस की निष्पत्ति अथवा उसके अधिवास का एक प्रमुख बिन्दु दर्शक अथवा प्रेक्षक की मानसिकता के साथ जुड़ा रहता है। अभिनेताओं के कुशल अभिनय से चमत्कृत होकर सहृदय प्रेक्षक उनमें मूल पात्रों की परिकल्पना का अनुमान 'चित्रतुरंगन्याय' से कर लेते हैं जिसके कारण उन्हें मूल पात्रों और अभिनेताओं में उल्लेखनीय अंतर नहीं लगता है। वे अभिनेताओं को ही मूल पात्र समझ कर उनके सुखःदुःख में समानुभूति सी करने लगते हैं जिसके साथ उनके हृदय की संवेदनाएँ सहज भाव से जुड़ जाती हैं और उन्हें भी रस की अनुभूति होने लगती है, भले ही उसकी मूल उत्पत्ति मूल पात्रों के हृदय में ही क्यों न रही हो।
3. चूंकि नाटक अथवा दृश्य काव्य का एक प्रमुख प्रयोजन दर्शकों अथवा सामाजिकों का मनः प्रसादन करना होता है, अतः रस के अधिवास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण पक्ष उनकी मानसिकता से भी अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है कि जब दर्शक मंच पर अभिनीत किये जाने वाले नाटक आदि देखते हैं तो सबसे पहले तो वे अमिधा शक्ति द्वारा उनका अर्थबोध करते हैं, तदनंतर वे विभावन-व्यापार द्वारा उनके साथ अपने हृदय का साधारणीकरण करते हैं। उस साधारणीकरण की मनः स्थिति में वे स्वयं को मूल पात्र समझने के भ्रमवश अभिनीत कला के साथ अपने चित्त का सामंजस्य करते हैं। सामंजस्य की यह स्थिति जब तक बनी रहती है, वे 'स्व' और 'पर' अर्थात् अपने और पराये की भावना भूल कर ऐसा समझने लगते हैं जैसे वे ही मूल पात्र हैं जिनका अभिनय उनके सामने किया जा रहा है। तदनंतर एक ऐसी अनिर्वचनीय स्थिति आ जाती है जब वे साधारणीकरण के क्षेत्र से आगे बढ़ कर रस की भुक्ति अथवा 'भोग' करने लगते हैं। इस प्रकार 'रस का अधिवास' सहृदय सामाजिकों की मानसिकता से स्वतः ही नैसर्गिक रूप में जुड़ा हुआ मान लिया जाता है।
4. 'रस के अधिवास' का प्रश्न कवि अथवा काव्यप्रणेता की मानसिकता से तो सब से अधिक जुड़ा हुआ है क्योंकि अपनी सर्जना का जो सुख उसे मिलता है, वह किसी अन्य व्यक्ति को नहीं मिल सकता। इसके लिए आवश्यक है कि वह सर्वप्रथम अपने द्वारा रचित कृति के प्रकृत विषय के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करे तदुपरान्त अपनी प्रतिभा के बल पर उसे एक ऐसी निर्मिति प्रदान करे जो आत्मसुख का हेतु हो ही, किन्तु उसके साथ-साथ उसमें ऐसे गुणों का भी समावेश रहे जो लोकमानस का भी चिन्तानुरंजन कर सकें। उसकी सर्जना के मूल में आदिकवि वाल्मीकी की 'रामायण की रचना' जैसी किसी ऐसी महत्वपूर्ण घटना की दिव्य प्रेरणा भी संयोजित रह सकती है जो उसे करुणाविगलित कर सृजन के प्रति उन्मुख करने की शक्तिप्रदात्री हो सकती है। उसका वह सृजन 'स्वांतः सुखाय' होकर भी 'सर्वजनहताय' हो सकता है। सृजन का वह सुख ही उसके लिए रसानुभूति का सुख अथवा आनन्द है, अतः कवि का मानस भी रस का अधिवास माना जाता है जो अपनी संवेदनाओं की रश्मियाँ बिखेर कर सहृदय मात्र को आनंदित करता है।

निष्कर्ष यह है कि 'रस का अधिवास' निम्नलिखित बिन्दुओं के सन्दर्भ में ही निरूपित किया जाना चाहिए जो निरपेक्ष होते हुए भी सापेक्षिकता से जुड़े हुए हैं—

1. दार्शनिक दृष्टि से आत्मचैतन्य ही रस का मूल अधिवास है जो सफल काव्यरचना से झंकृत होकर स्वतः ही अपने आनंदमूलक स्वरूप की अनुभूति करता है।

2. स्रष्टा के रूप में कवि का प्रबुद्ध शुद्ध अन्तःकरण ही रस का अधिवास है जो अपनी लोकोत्तर सर्जना से अभिभूत होकर आत्मसुख की अनुभूति करता है।
3. समाजिकता की दृष्टि से सहृदय सामाजिक का मुक्त हृदय की रस का अधिवास है जो काव्यकृति में अभिव्यक्त भावनाओं के साथ अपना साधारणीकरण करता हुआ उनके साथ आत्म-साक्षात्कार की सी अनुभूति करता है जिसके कारण उसमें सत्त्वोदेक्रमयी जागृति उत्पन्न होती है।
4. दृश्य काव्य के अभिनय की दृष्टि से 'रस का अधिवास' अभिनेताओं में भी मान लिया जाता है जो मूल पात्रों की तद्रूप अनुकृति करते हुए भावविभोर हो उठते हैं और यह उनकी भावविभोरता ही उनके हृदय में रस के अधिवास की संभावना का हेतु कही जा सकती है।
5. एक विशिष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण काव्य के मूल पात्रों में ही रस का अधिवास मानता है किन्तु यह मान्यता व्यवहारसंगत नहीं है क्योंकि जो मूल पात्र अतीत के गर्भ में विलीन हो गये हैं, उनकी रसदशा से वर्तमान की प्रयोजनियता हो ही क्या सकती है ? उनकी रसानुभूतियाँ तो उन्हीं तक सीमित थी जो उनके साथ ही नष्ट हो गयी, अतः उसके वर्तमान और भविष्य से क्या लेना-देना?

उपर्युक्त बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए यही निर्णय करना उचित प्रतीत होता है कि काव्यरस का प्रधान सम्बन्ध उसके प्रणेता अथवा अधिकारी आस्वादयिता से ही है जो प्रथमतः कृति का रससिद्ध सर्जक होने के साथ-साथ उसका प्रथम भावक (आस्वादयिता) भी होता है। कारयित्री प्रतिभा यदि उसके सृजन की हेतु होती है तो भावयित्री प्रतिभा उसके आस्वादन की प्रक्रिया में प्रमुख उपादान बनती है। उसकी रचना चाहे प्रबन्धकाव्य की विधा में निर्मित हो अथवा मुक्तक काव्य की प्रगीतपद्धति की अनुगामिनी हो, दोनों की स्थितियों में वह रसप्रतीति का आधार हो सकती है। अंतर इतना ही है प्रबंधकाव्य के पात्रों के कार्यकलापों और चरित्रों के माध्यम से वह साधारणीकृत पात्रों की परिकल्पना करता हुआ उनसे रसबोध करता है जो परोक्ष से प्रत्यक्ष की ओर उन्मुख होता है जबकि मुक्तक काव्यों के माध्यम से वह उनकी मनोवृत्तियों के साथ सीधा सम्पर्क साध लेता है।

कुल मिलाकर काव्यकृति ही रस का उपायन अथवा साधन है जिसमें चित्रित विभावों, अनुभावों और संचारी भावों का साधारणीकरण करता हुआ उसका सहृदय पाठक उसके साथ अपनी संवेदनाओं का तालमेल जमाता है और इस प्रक्रिया में काव्य कमा अर्थबोध, विभाजन व्यापार और भोजकत्व ये तीनों प्रमुख सोपान रहते हैं। एक वाक्य में कहा जा सकता है कि आश्रय के हृदय में अवस्थित स्थायी भाव जब काव्यवर्णित विभावों, अनुभावों और संचारी भावों से प्रत्यक्ष आत्मसाक्षात्कार करते हुआ उन्हें अपने सत्त्व में समाहित कर लेता है तो वह अनायास ही रस रूप में परिणत हो जाता है। काव्य द्वारा होने वाली इस प्रतीति की यही रहस्यमयता है जिसे समझने के लिए अधिक ऊहापोह करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

### रस' शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ

'रस' शब्द 'रस्' धातु में 'अच्' प्रत्यय जोड़ने से बिना है जिसका सामान्य अर्थ है आनंद देने वाली वस्तु से प्राप्त होने वाला सुख या स्वाद! इसकी व्युत्पत्ति 'आस्वादये इति रसः' के रूप में भी की गई है जिसका अर्थ है जो आस्वादित किया जाय अथवा जिसका स्वाद लिया जाय। 'रस' और 'आस्वाद' शब्द प्रायः समानार्थवाची शब्द हैं किन्तु

व्यवहार में उन दोनों के संयोग से सामासिक पद बना कर 'रसास्वाद' जैसे प्रयोगों की परम्परा भी चली आई है जिसका समासविग्रह किया जाता है— 'रस का आस्वाद अथवा रसमय आस्वाद' ।

'रस' अथवा 'आनन्द' शब्द भिन्न भिन्न वस्तुओं अथवा प्रसंगों से जुड़ कर भिन्न-भिन्न रूपों में अपना आस्वाद व्यक्त करते हैं। पदार्थों के साथ जुड़कर वे रसनेन्द्रिय (जीभ) के माध्यम से कषाय (कसैला), तिक्त (तीखा), कटु (कड़वा), लवण (नमकीन), अम्ल (खट्टा) और मधुर (मीठा) आदि स्वादों को प्रकट करते हैं। आयुर्वेद में भी औषधियों के रूप में रसों की विवेचना की गई है। इन्द्रियों के संसर्ग से मिलने वाले रस विषयसुखों के नाम से जाने जाते हैं तो आध्यात्मिक क्षेत्र में जानकर वे 'ब्रह्मानन्द' की कोटि तक पहुँचा दिये गये हैं जिनका क्षेत्र निश्चय ही अलौकिक और इन्द्रियसुखों से परे का क्षेत्र है। वेदों, उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी 'रस' शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न प्रसंगों में हुआ है। तैत्तिरीय उपनिषद् में तो ब्रह्म को भी 'रस' रूप में विवेचित किया गया है जिसे प्राप्त क रवह आनन्दमय हो जाता है—

**'रसौ वे सः हयेवायं लब्ध्वा स आनन्दो भवति ।'**

बोलचाल में भी 'रस' शब्द का प्रयोग दैनिक जीवन में प्रायः किया जाता है। 'गन्ने के रस' से लेकर बातों के रस की बात निरंतर दोहराई जाती है। बातों का रस लेने के लिए ही तो राधा ने कृष्ण की मुरली छिपा ली थी जिसके प्रसंग को लेकर महाकवि बिहारी ने निम्नलिखित दोहे में दोनों की मधुर संवादयोजना का कितना सुंदर दृश्य उपस्थित किया है :—

**बरतस लालच लाल के, मुरली धरि लुकाय ।**

**सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै, नटि जाय ।।**

चूँकि 'काव्य के तत्त्व' ही हमारे विवेच्य विषय हैं, अतः इस अध्याय में केवल 'काव्यरस' का ही विवेचन किया जाएगा जिसकी परम्परा हजारों वर्षों से भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में चली आई है तथा जिसके प्रवर्तन का प्रमुख श्रेय आचार्य भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' संज्ञक ग्रन्थ को दिया जाता है।

### **रस सम्प्रदाय की परम्परा**

यद्यपि रस-सम्प्रदाय के आद्याचार्य भरतमुनि माने जाते हैं किन्तु उनके पूर्व भी ऐसे अनेक रसविवेचक आचार्य हुए हैं, जिनका उल्लेख उनके पूर्ववर्ती ग्रन्थों तथा 'नाट्यशास्त्र' में हुआ है। राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में 'रसाधिकारिकः नन्दिकेश्वरः' की पंक्ति में नन्दिकेश्वर नामक रसाधिकारी आचार्य का नाम उल्लिखित किया है जिसकी प्रमाणिकता का शोध अभी तक पूर्णतः नहीं हो सका है।

भरतमुनि ने 'दृश्यकाव्य' की विवेचना के संदर्भ में भी 'नाट्य रस' का विवेचन किया था जो कालांतर में काव्यशास्त्र का एक प्रमुख विचारणीय विषय बन गया। उन्होंने नाटक के तीन तत्त्व—'वस्तु, नेता और रस' माने हैं जिनमें रस को सबसे अधिक महत्व दिया गया है। 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रकल्पते' अर्थात् 'रस के बिना कोई अन्य अर्थ (तत्त्व) प्रवृत्त नहीं होता' की पंक्ति इसका प्रमाण है। रसों और भावों की विवेचना करते हुए उन्होंने अलंकारों, गुणों और दोषों को भी रसों के आश्रित ( रससंश्रय ) माना है।

भरतमुनि के पश्चात् इस सम्प्रदाय को लेकर जो काव्यशास्त्रीय परम्परा विकसित हुई, इसके प्रथम छोर पर आचार्य भामह और अंतिम छोर पर पण्डितराज जगन्नाथ अवस्थित हैं। अलंकरवादी आचार्यों ने जिनमें भामह, दण्डी, वामन, उद्भट और रुद्रट प्रमुख हैं, अलंकार जो अंगी ( प्रधान ) और रस को अंग ( गौण ) माना और रसवत् अलंकार की परिधि में रस को भी समेट लिया । उन्होंने रस की काव्यगत महत्ता को अवश्यमेव स्वीकार किया किन्तु काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में उसे स्थान नहीं दिया। कालांतर में रसवादी और ध्वनिवादी आचार्यों ने रस को वरीयता प्रदान की। आनंदवर्धन ने ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिष्ठा करते हुए 'रसध्वनि' को काव्य की आत्मा कहा तो विश्वनाथ ने 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' सूत्र में रस को ही काव्य की आत्मा का अधिवास माना। मम्मट तथा उनके परवर्ती आचार्यों द्वारा रससम्प्रदाय को विशेष महत्व मिला और 'रसगंगाधर' के प्रणेता पण्डितराज जगन्नाथ ने तो 'रसगंगाधर' नामक ग्रन्थ में उसे पराकोटि तक पहुँचा दिया जिसका विस्तृत और गम्भीर विवेचन आचार्य अभिनवगुप्त के 'ध्वन्यालोकलोचन' नामक ग्रन्थ में मिलता है। रीतिकालीनवादी अलंकारवादी आचार्यों को छोड़कर रस का प्रतिपादन और समर्थन हिन्दी के आधुनिक आचार्यों ने भी किया है, जिसका एक महत्वपूर्ण पक्ष उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या से जुड़ा हुआ है।

### बोधप्रश्न / अभ्यास प्रश्न

#### I. बोधप्रश्न

#### अधूरा वाक्य पूरा कीजिए

- क. नाटक के तीन तत्त्व ..... ।
- ख. विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भावों के संयोग से ..... ।
- ग. रससूत्र के तृतीय व्याख्याता आचार्य ..... हैं।
- घ. आस्वाद्यते इति .....
- ङ. पण्डितराज जगन्नाथ ने .....कोटियाँ मानी हैं ।

#### II. अभ्यास प्रश्न

- 1. रस के स्वरूप का परिचय लिखिये।
- 2. रस अधिवास का स्वरूप लिखिये।
- 4. रस निष्पत्ति का परिचय लिखिये।

---

### 7.3 सारांश

---

इस इकाई में आप साहित्यशास्त्र के अनुसार रस के स्वरूप के विषय में वर्णन किया गया है। रस मूलतःसहृदय जन के चैतन्य में अधिष्ठित रहता है जो सरस काव्यकृतियों से जुड़कर उसी प्रकार अभिव्यक्त हो जाता है जिस प्रकार काष्ठ ( लकड़ी ) में अंतर्निहित अग्नि बाहर की अग्नि से सम्पृक्त होकर उद्दीप्त हो जाती है। उसे उद्दीप्त करने अथवा जगाने की क्षमता बाहर की चिन्तारियों में अवश्य होनी चाहिए तथा काष्ठ में भी उसे ग्रहण करने के गुणों का समावेश रहना चाहिए। वस्तुतः 'रसनिष्पत्ति' कराने के लिए कवि की कृति की ही प्रधानता रहती है जो लोकहृदय के साथ रमकर अपना एक ऐसा विशाल और भव्य आकार धारण कर लेती है जिसमें अधिक से अधिक सहृदयजनों को रसलीन करने की क्षमता रहती है। इस प्रकार

‘कवि’, ‘काव्य’, और ‘रसिक’ ये तीनों एक ही प्रकार की मानसिकता में तल्लीनता पाकर रस की आनंद अवस्था का ‘त्रिक’ अथवा ‘संगम’ स्थापित कर सकते हैं। रस का अधिवास अथवा निवास कहाँ है, यह एक अत्यंत ही जिज्ञासापूर्ण प्रश्न है। भरतमुनि ने अपने रसनिष्पत्तिसूत्र में रस के जिन अवयवों (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव) को लेकर उनके संयोग से रसनिष्पत्ति होने की जो बात कही है, वह मूलतः ‘नाट्य रस’ से ही सम्बन्धित है। इसका अभिप्राय यह है कि जब आश्रय के हृदय में अवस्थित सुषुप्त स्थायी भाव का संयोग विभाव अथवा रस के ‘आलंबन’ के साथ होता है तो वह आलंबन की चेष्टाओं तथा अनुकूल वातावरण और परिस्थिति से उदीप्त होकर रसदशा की ओर आगे बढ़ता है जिसके अंतराल में अनेक प्रकार के अनुभाव उसकी शारीरिक और मानसिक अंतर्दशाओं की अनुभूति के प्रभावजन्य लक्षण प्रकट करते हुए उसे रसक्षेत्र की दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार स्थायी भाव की यह निष्पादित परिणति ही ‘रस’ नाम से जानी जाती है।

## 7.4 शब्दावली

| शब्द        | — | अर्थ                |
|-------------|---|---------------------|
| सम्पृक्त    | — | जुड़ा हुआ / लिप्त   |
| अखण्डः      | — | खण्ड रहित           |
| स्वप्रकाशः  | — | अपना प्रकाश         |
| रसनिष्पत्ति | — | रस निष्पन्न होना    |
| कैश्चिद्    | — | कुछ                 |
| प्रमातृभिः  | — | प्रमाताओं के द्वारा |

## 7.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास , उमाशंकर शर्मा ऋषि , चौखम्बा विश्वभारती प्रकाशन, वाराणसी
2. काव्यप्रकाश, आचार्यविश्वेश्वर , चौखम्बा विश्वभारती प्रकाशन, वाराणसी
3. वैदिक साहित्य, कपिलदेव द्विवेदी , चौखम्बा विश्वभारती प्रकाशन, वाराणसी

## 7.6 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

### I. बोध प्रश्नों के उत्तर

- क. वस्तु, नेता और रस
- ख. रस की निष्पत्ति होती है
- ग. भट्टनायक
- घ. रसः
- ड. आनंद की तीन

### II. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर छात्र स्वयं लिखेंगे

---

## इकाई 8 रसः भाव, विभाव, अनुभाव इत्यादि

---

### इकाई की रूपरेखा

- 8.0 उद्देश्य
- 8.1 प्रस्तावना
- 8.2 रसःभाव, विभाव, अनुभाव इत्यादि
- 8.3 सारांश
- 8.4 शब्दावली
- 8.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 8.6 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

---

### 8.0 उद्देश्य

---

इस इकाई के अध्ययन से आप :

- रसः भाव, विभाव, अनुभाव इत्यादि के विषय में परिचित होंगे।
- भाव के विषय में परिचित हो सकेंगे।
- अनुभाव के विषय में परिचित होंगे।
- व्यभिचारी के विषय में परिचित होंगे।
- संचारी (व्यभिचारी) भाव के विषय में परिचित होंगे।

---

### 8.1 प्रस्तावना

---

संस्कृत काव्यशास्त्र से सम्बन्धित इस इकाई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि रस, भाव, विभाव, अनुभाव इत्यादि क्या है? इसके विषय में मानव हृदय में वासनारूप में स्थित मूलभाव स्थायी भाव का वर्णन किया गया है। ये भाव चित्त में स्थायी रूप से स्थिर रहते हैं जिन्हें कोई भी विरोधी अथवा अविरोधी भाव छिपा नहीं सकता। स्थायी भावों की संख्या आचार्यों ने नौ मानी है 1—रति 2. हास 3. शोक 4. क्रोध 5. उत्साह 6. भय 7. जुगुप्सा 8. विस्मय और 9. निर्वेद या शम। रति का अर्थ है प्रीति, प्रेम अथवा अनुराग। यह श्रृंगार रस का स्थायी भाव है। वाणी, अंग तथा वेशभूषा की विकृति देखकर चित्त में जो विकार उत्पन्न होता है, उसे हास कहते हैं। 'हास' हास्यरस का स्थायी भाव है।

अपने इष्ट जनों के वध, गुरुजनों के अपमान तथा अपने प्रतिकूल कार्य करने वालों के प्रति हमारे मन में जो तीव्र आक्रोश उत्पन्न होता है। उसे क्रोध कहते हैं। यह रौद्र रस का स्थायी भाव है। किसी महान् अथवा शुभ कार्य करने के लिए मन में जो आवेश अथवा उत्साह उत्पन्न होता है, उसे 'उत्साह' कहते हैं। यह वीर रस का स्थायी भाव है सभी भावों को भिन्न-भिन्न रसों के स्थायी भाव इस हेतु से भी कहा जाता है कि वे उन रसों की निष्पत्ति होने तक हमारे मन में बने रहते हैं और अन्य भावों से बाधित नहीं होते। यदि वे भाव अपने नियत रस से अन्यत्र किसी अन्य रस में उत्पन्न होते और मिटते रहते हैं तो वे वहाँ स्थायी न रहकर व्यभिचारी (संचारी) बन जाते हैं। भावों

का 'विभावन' करने वाले अथवा उन्हें आस्वादयोग्य बनाने वाले 'कारण' विभाव कहलाते हैं। 'विभाव' 'कारण' 'हेतु' और 'निमित्त' ये सभी पर्यायवाची (समानार्थक) शब्द हैं। 'रति' आदि स्थायी भावों को रस तक पहुँचाने में विभावों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रहती है।

## 8.2 रस: भाव विभाव, अनुभाव, इत्यादि

भरतमुनि ने रसनिष्पत्ति के सूत्र में उसके तीन प्रमुख अंग निर्धारित किये हैं जो इस प्रकार हैं— 1. भाव 2. अनुभाव 3. व्यभिचारी भाव।

### 1. भाव

मानव हृदय में वासनारूप में स्थित मूलभाव स्थायी भाव कहलाते हैं। ये भाव चित्त में स्थायी रूप से स्थिर रहते हैं जिन्हें कोई भी विरोधी अथवा अविरोधी भाव छिपा नहीं सकता। जब इन स्थायी भावों का संयोग विभाव, अनुभाव और संचारी (व्यभिचारी) भावों से होता है तो वे रस रूप में व्यक्त हो जाते हैं। यों तो स्थायी भावों की संख्या अनेक हो सकती है, किन्तु आचार्यों ने उनकी संख्या नौ मानी है जो निम्नलिखित है —

1. रति
2. हास
3. शोक
4. क्रोध
5. उत्साह
6. भय
7. जुगुप्सा
8. विस्मय
9. निर्वेद या शम

इनका सामान्य परिचय इस प्रकार है—

1. **रति** का अर्थ है प्रीति, प्रेम अथवा अनुराग। यह शृंगार रस का स्थायी भाव है। नायक—नायिका अथवा प्रेम—प्रेमिका का पारस्परिक प्रेम ही 'रति' कहलाता है जो शृंगार रस का मूल आधार है। यों तो देवता, गुरु और संतान के प्रति बनी हुई श्रद्धा तथा प्रीति भी 'रति' कहलाती है जिससे भक्तिरस तथा वात्सल्य रस की निष्पत्ति मानी जाती है किन्तु काव्यशास्त्रीयों ने उन्हें भावमात्र माना है और नायक—नायिका की रति से निष्पन्न रस को ही शृंगार रस की संज्ञा दी है।
2. **हास**— वाणी, अंग तथा वेशभूषा की विकृति देखकर चित्त में जो विकार उत्पन्न होता है, उसे हास कहते हैं। 'हास' हास्यरस का स्थायी भाव है।
3. **शोक**— अपने प्रियजन, बंधु—बांधव तथा वैभव आदि का विनाश हो जाने पर चित्त में जो व्याकुलता उत्पन्न होती है, उसे शोक कहते हैं। यह करुण रस का स्थायी भाव है।
4. **क्रोध**— अपने इष्ट जनों के वध, गुरुजनों के अपमान तथा अपने प्रतिकूल कार्य

करने वालों के प्रति हमारे मन में जो तीव्र आक्रोश उत्पन्न होता है। उसे क्रोध कहते हैं। यह रौद्र रस का स्थायी भाव है।

5. **उत्साह**— किसी महान् अथवा शुभ कार्य करने के लिए मन में जो आवेश अथवा उत्साह उत्पन्न होता है, उसे 'उत्साह' कहते हैं। यह वीर रस का स्थायी भाव है।
6. **भय** — हिंसक प्राणियों अथवा बलवान शत्रुओं को देखने अथवा उनसे सामना करने की विपरीत परिस्थितियों के कारण मन में व्याकुलता अथवा कायरता का जो भाव उत्पन्न होता है उसे 'भय' कहते हैं। यह भयानक रस का स्थायीभाव है।
7. **जुगुप्सा** — घृणित वस्तु का देख कर मन में उसके प्रति जो घृणा उत्पन्न होती है उसे 'जुगुप्सा' कहते हैं। यह विभत्स रस का स्थायी भाव है।
8. **विस्मय**— किसी अलौकिक घटना अथवा वस्तु विशेष को देखकर मन जब आश्चर्यचकित हो जाता है तो उससे उत्पन्न होने वाला भाव 'विस्मय' कहलाता है। यह अद्भुत रस का स्थायी भाव है।
9. **निर्वेद (शम)** — जब संसार की असारता तथा नित्य और अनित्य रहने वाली वस्तुओं के विचार से मन में उनके प्रति विरक्ति (वैराग्य) उत्पन्न हो जाती है तो उसे 'निर्वेद' या 'शम' कहते हैं। यह शान्त रस का स्थायी भाव है।

उपर्युक्त सभी भावों को भिन्न-भिन्न रसों के स्थायी भाव इस हेतु से भी कहा जाता है कि वे उन रसों की निष्पत्ति होने तक हमारे मन में बने रहते हैं और अन्य भावों से बाधित नहीं होते। यदि वे भाव अपने नियत रस से अन्यत्र किसी अन्य रस में उत्पन्न होते और मिटते रहते हैं तो वे वहाँ स्थायी न रहकर व्यभिचारी (संचारी) बन जाते हैं। उदाहरण के लिए शृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' है जो शृंगार रस की परिणति पर्यन्त उसमें बना रहता है किन्तु हास्य, करुण अथवा शांत रस में वह संचारी भाव बन कर भी आ सकता है। इसी प्रकार शृंगार और वीर रस में 'हास' वीर रस में 'क्रोध', रौद्र रस में 'उत्साह' शृंगार रस में 'भय' तथा शांत और भयानक रस में 'जुगुप्सा' जैसे स्थायी भाव संचारी भाव बनकर भी आ सकते हैं। अद्भुत रस को छोड़ कर 'विस्मय' का भाव अन्य सभी रसों में संचारी भाव के रूप में प्रयुक्त होता है।

स्थायी भाव अपने नियत रस से अन्यत्र किसी भी रस में भले ही व्यभिचारी (संचारी) भावों के रूप में प्रयुक्त हो किन्तु वे अपने-अपने रसों के स्थायी भाव होने के अधिकार से कभी भी वंचित नहीं किये जा सकते। उनकी स्थिति की तुलना उस राजा से की जा सकती है जो अन्य राज्यों में जाने पर भले ही शासनाशक्ति से संयुक्त न रहे किन्तु अपने राज्य में तो वह सर्वशक्ति सम्पन्न राजा ही रहता है।

## 10. विभाव

भावों का 'विभावन' करने वाले अथवा उन्हें आस्वादयोग्य बनाने वाले 'कारण' विभाव कहलाते हैं। 'विभाव' 'कारण' 'हेतु' और 'निमित्त' ये सभी पर्यायवाची (समानार्थक) शब्द हैं। 'रति' आदि स्थायी भावों को रस तक पहुँचाने में विभावों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रहती है। दृश्य काव्यों (नाटक आदि) में वाणी और अंगों के निपुण अभिनय द्वारा 'आश्रय' (जिसके हृदय में स्थायीभाव रहता है) के हृदय में स्थित स्थायी भाव को रसकोटि की ओर अग्रसर करने के कारण ही

उन्हें विभाव कहा जाता है। विभावों के अभाव में स्थायीभाव सुषुप्तावस्था में रहता है। उसे जगाने का काम विभाव ही करते हैं। रसनिष्पत्ति के लिए भावों का उद्बोध अथवा अंकुरण ही प्राप्त नहीं है अपितु उसकी वृद्धि अथवा उसका 'उपचय' भी आवश्यक है। बीज का अंकुरित होना ही फल की उपलब्धि नहीं कराता, अपितु उसके लिए धूप, हवा और पानी की भी आवश्यकता रहती है। ठीक यही स्थिति रसनिष्पत्ति की है। उसके लिए भी विभाव आदि के साथ स्थायी भाव का संयोग होना जरूरी है। वस्तुतः विभाव ही रस के प्रमुख कारण हैं।

**विभाव के भेद** – विभाव दो प्रकार के होते हैं— 1. आलम्बन विभाव और 2. उद्दीपन विभाव।

### अ) आलम्बन विभाव

जिसका आलम्बन (अवलम्बन) या आधार लेकर स्थायी भावों की जाग्रति होती है, उन्हें आलम्बन कहते हैं। जैसे शृंगार रस में नायक और नायिका 'रति' संज्ञक स्थायी भाव के आलम्बन होते हैं। यदि नायक के हृदय में 'रति' नामक स्थायी भाव हो तो वह उसका 'आश्रय' तथा नायिका उसकी 'आलम्बन' है और यदि नायिका का हृदय 'आश्रय' का हृदय हो तो नायक उसका आलम्बन माना जाता है। प्रत्येक रस के स्थायी भाव के अनुरूप ही उसका आलम्बन विभाव होता है।

आलम्बन विभाव के भी दो प्रकार हैं— विषयालम्बन और आश्रयालम्बन। प्रथम में विषय के आलम्बन से रस की प्रतीति होती है तो द्वितीय में आश्रय (नायक आदि) के द्वारा रस की उत्पत्ति मानी जाती है।

### आ) उद्दीपन विभाव

आलम्बन की चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव कहलाती हैं, जिनके अन्तर्गत देशकाल और वातावरण को भी सम्मिलित किया जाता है। उदाहरण में शृंगार रस में नायक के लिए नायिका आदि आलम्बन है तो उसकी चेष्टाएँ रति भाव को उद्दीपन करने के कारण उद्दीपन विभाव कहलाती हैं। रतिचर्या के उपयुक्त वातावरण जैसे चाँदनी रात, प्राकृतिक सुषमा, शांतिमय वातावरण, पुष्पोद्यान और विहारसरोवर आदि विषय भी उद्दीपन विभाव के अंतर्गत आते हैं। स्थायी भावों को उदीप्त करने के कारण ही उन्हें उद्दीपन विभाव कहते हैं।

## 11. अनुभाव

आश्रय के मनोगत भावों को व्यक्त करने वाली शारीरिक चेष्टाएँ, अनुभाव कहलाती हैं। भावों के पश्चात् उत्पन्न होने के कारण भी उन्हें अनुभाव कहते हैं। इनके द्वारा हमें स्थायी भाव का अनुभव अथवा अभिज्ञान होता है। उदाहरण के लिए शृंगार रस के आलम्बन अर्थात् नायिका की भ्रूभंगिमा, कटाक्ष, वेशभूषा तथा कामोद्दीपक अंगसंचालन आदि उसके उद्दीपन विभाव हैं तो उसके रोमांच, स्वेद, अश्रु तथा स्तम्भ आदि उसके 'अनुभाव' माने जाते हैं क्योंकि उनसे रति भाव का प्रकटीकरण होता है। अनुभावों की क्रिया से ही रसोद्रेकता की पहचान की जाती है। सभी रसों में उनके अनुभाव निहित रहते हैं जिनसे रस की निष्पत्ति की प्रक्रिया आगे बढ़ती है। 'अनुभावयंति इति अनुभावाः' के अनुसार उन्हें भावबोधक तत्व भी कहा जा सकता है।

## अनुभावों के भेद—

अनुभाव चार प्रकार के माने जाते हैं— 1. कायिक 2. वाचिक 3. आहार्य और 4. सात्विक।

**कायिक** अनुभाव आश्रय की शारीरिक चेष्टाओं से प्रकट होते हैं। जैसे कटाक्ष करना, भौंहें चलाना, आँहें भरना, इशारे करना आदि। इन चेष्टाओं में आश्रय को प्रयास करना पड़ता है।

**वाचिक** अनुभावों में आश्रय की वाणी सम्बन्धी चेष्टाएँ आती हैं जो भिन्न-भिन्न रसों के अनुरूप वचनों द्वारा व्यक्त होती हैं।

**आहार्य** अनुभावों का सम्बन्ध आश्रय की वेशभूषा से होता है जो भिन्न-भिन्न रसों के अनुरूप धारण की जाती है। उनसे भी भावों का प्रकटीकरण होता है। नाटक और अभिनेय काव्यों में विशेष महत्व रहता है।

## सात्विक अनुभाव

सत्त्व से उत्पन्न होने वाले अनुभावों को सात्विक अनुभाव कहते हैं। इनकी उत्पत्ति सहज भाव में अनायास ही मानी गई है। सत्त्व मनःप्रभव है अर्थात् समाहित मन से सत्त्व उत्पन्न होता है। महाराज भोज ने सत्त्व का अर्थ 'रजोगुण और तमोगुण से रहित मन' किया है। आचार्य हेमचंद्र के शब्दों में प्राण ही सत्त्व है जिससे उत्पन्न होने वाले भाव सात्विक कह जाते हैं। उन्होंने लिखा है कि प्राण में पृथ्वी तत्त्व प्रधान होने पर 'स्तम्भ', जल तत्त्व प्रधान होने पर 'अश्रु', अग्नि (तेज) तत्त्व प्रधान होने पर 'वैवर्ण्य', आकाश तत्त्व प्रधान होने पर 'प्रलय' और वायु तत्त्व की मंदता, मध्यता तथा उत्कृष्टता होने पर क्रमशः 'रोमांच' 'कम्प' और 'स्वरभेद' नामक सात्विक अनुभाव उत्पन्न होते हैं। भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में सात्विक अनुभावों के आठ भेद माने हैं जो सभी परवर्ती आचार्यों द्वारा सुमान्य रहे हैं। उन आठों के लक्षण इस प्रकार हैं—

1. **स्तम्भ** — यह अनुभाव हर्ष, भय, शोक, विस्मय, विषाद और रोष आदि भावों से उत्पन्न होता है। इसमें शून्यता, जड़ता, निष्कंपता, निस्संज्ञता आदि के लक्षण प्रकट होते हैं। इसमें व्यक्ति आवाज सा रह जाता है और उसकी शारीरिक चेष्टाएँ अवरुद्ध सी हो जाती हैं।
2. **स्वेद** — यह अनुभाव क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दुःख, श्रम, रोग और उपघात आदि से उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति होने पर शरीर से पसीना छूटने लगता है।
3. **रोमांच** — यह स्पर्श, श्रम, शीत, हर्ष, क्रोध और रोग आदि से उत्पन्न होता है। इसमें शरीर का पुलकित होना अथवा उसके रोंगटे खड़े होने की क्रियाएँ स्वतः ही होने लगती हैं।
4. **वेपुथ**— इसे कम्प भी कहते हैं जिसके कारण शरीर काँपने लगता है। इसकी उत्पत्ति भय, क्रोध, श्रय, ताप, शीत और रोग आदि से मानी गई है।
5. **वैवर्ण्य** — यह शीत, क्रोध, भय, श्रम, ताप और रोग आदि से उत्पन्न होता है। इसमें चेहरे पर विवर्णता आ जाती है जिससे चेहरे का रंग बदल जाता है और उस पर हवाईयाँ सी उड़ने लगती हैं।
6. **स्वरभंग** — स्वरभंग में आवाज भट सी जाती है और आवेग के कारण शब्द का

उच्चारण अच्छे से नहीं हो पाता। यह अनुभाव, भय, हर्ष, क्रोध, मद और रोग आदि से उत्पन्न होता है। स्वर का गद्गद् होना भी इसे से आता है।

रसभाव, विभाव,  
अनुभाव इत्यादि

7. **अश्रु** — हर्ष अथवा शोक की प्रबलता के कारण आँखों से आ जाना इसकी मुख्य पहचान है। भरतमुनि ने आनंद, अमर्ष, भय, शोक, और करुणा आदि से इसकी उत्पत्ति बताई है।
8. **प्रलय** — विरह, दुःख, शोक, भय और क्रोध आदि के कारण इन्द्रियों का चेतनाशून्य हो जाना 'प्रलय' कहलाता है। निष्चेष्टता, निष्कम्पता, श्वास का रुक जाना और पृथ्वी पर बेहोश होकर गिर पड़ना आदि इसके प्रमुख लक्षण हैं।

**विशेष** — सात्विक अनुभावों के रूप में जिन आठ प्रकारों के लक्षण निरूपित किये गये हैं, वे सात्विक भाव भी कहलाते हैं जिनकी स्थिति रस के अवयव के रूप में स्वतन्त्र भी मानी गई है किन्तु इन्हें भाव के स्थान पर 'अनुभाव' कहना अधिक व्यवहारिक समझा जाता है। सात्विक भाव 'अयत्नज भाव' भी कहलाते हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति सहज अथवा अनायास (बिना प्रयास के) ही होती है। जैसे 'रति' स्थायी भाव के उद्बुद होने पर रोमांच, कम्प तथा स्वेद अनुभावों की स्वतः ही उत्पत्ति होना आदि है।

## 12. संचारी (व्यभिचारी) भाव :

भरतमुनि ने अपने 'रसनिष्पत्ति' सूत्र में 'व्यभिचारी' के नाम से जिन भावों का संकेत किया था, वे कालांतर में संचारी के नाम से अधिक प्रचलित और प्रयोगगत हो गये। वस्तुतः ये दोनों ही शब्द समानार्थवाची हैं। 'व्यभिचारी' शब्द वि + अभिचारी से बना है, जिसका अर्थ है, विशेष रूप से अभिचरण करने वाला। 'संचारी' का अर्थ संचरणशील होता है। 'अभिचरण' और 'संचरण' शब्दों में केवल उपसर्गों (अभि और सम) की भिन्नता है जबकि मूल शब्द 'चरण' दोनों में प्रयुक्त हुआ है। ऐसी स्थिति में 'व्यभिचारी' के स्थान पर 'संचारी' शब्द का प्रयोग अधिक शिष्ट और सांस्कृतिक माना जा सकता है क्योंकि व्यभिचारी शब्द का प्रयोग (हीन अर्थ में) ऐसे व्यक्ति के लिए भी किया जाता है, जो दुराचारी अथवा लम्पट हो। अस्तु, इन दोनों में से किसी भी शब्द को स्वेच्छापूर्वक प्रयुक्त करने के लिए सभी व्यक्ति स्वतंत्र हैं क्योंकि दोनों ही शब्द संचरणशील भावों की अभिव्यक्ति करते हैं।

व्यभिचारी अथवा संचारी भाव संचरणशील अथवा अस्थिर मनोवृत्तियों के द्योतक हैं। वे स्थायी भावों की तुलना में कम समय तक टिकते हैं। उदाहरण के लिए शृंगार रस का स्थायी भाव रति है जिसकी स्थिति रसनिष्पत्ति पर्यन्त स्थिर या स्थायी बनी रहती है किन्तु उसके बीच-बीच में ऐसे अनेक छोटे-छोटे और क्षणिक भाव आश्रय (रस का आस्वादयिता) के मानस में उत्पन्न और मिटते रहते हैं जिनसे रति भाव तो पुष्ट होता है किन्तु वे मेघाच्छन्न आकाश में बिजली की भाँति अपनी चमक दिखाकर लुप्त हो जाते हैं अथवा पानी के बुलबुले की भाँति उठते और मिटते जाते हैं। अपनी चंचलता अथवा संचरणशीलता के कारण ही वे संचारी भाव कहलाते हैं। इस प्रकार के भावों से कभी हर्ष-विवाद, कभी लज्जा-चिंता और कभी उत्सुकता अथवा शंका व्यक्त होती है किन्तु उनका प्रकटीकरण स्थायी भावों के उपचय में बाधक नहीं बनता।

यहाँ एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि परिस्थिति विशेष में स्थायी भाव भी अपने मूल (नियत) रस से हटकर अन्य रसों में भाव बन जाता है। जैसे रति और शोक भाव क्रमशः शृंगार और करुण रस से निकल कर अन्य रसों में संचारी भाव के भी रूप धारण कर लेते हैं। अतः उनके विषय में कोई निश्चित नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। प्रसंगवश एक ही संचारी भाव अनेक रसों में संचारी बन कर आ सकता है। उदाहरण के लिये 'चिंता' और 'शंका' जैसे संचारी भाव शृंगार, करुण वीर और भयानक रसों में प्रायः एक ही अधिकार के समान प्रयुक्त किये जा रहे हैं।

संचारी भाव को स्थायी भाव के सहकारी कारण भी कहते हैं। वे मन की स्थिति विशेष से उत्पन्न होते हैं और अपना प्रयोजन सिद्ध करने के पश्चात् अर्थात् स्थायी भाव को उचित सहयोग देकर विलीन हो जाते हैं, इसलिए उन्हें पानी के बुलबुलों अथवा बिजली की चमक से उपमा दी गई है।

### संचारी भावों के भेद

संचारी भाव तैंतीस प्रकार के माने गये हैं जो भिन्न-भिन्न रूपों में आवश्यकता के अनुरूप प्रयुक्त होते हैं। उनके नाम और लक्षण निम्नलिखित होते हैं—

1. **निर्वेद** — वैराग्य, इष्ट वस्तु के वियोग, दरिद्रता, व्याधि, अपमान एवं आक्षेप आदि के कारण अपने आप को धिक्कारने या कोसने की स्थिति में निर्वेद उत्पन्न होता है जब यह निर्वेद तत्त्वज्ञान या वैराग्य से उत्पन्न होता है तो वह शांत रस का स्थायी भाव बन जाता है। अन्य रसों में इसकी स्थिति संचारी भाव के रूप में ही रहती है। दीनता, चिंता, अश्रुपात, विवर्णता और दीर्घोच्छ्वास आदि क्रियाएँ इसके अनुभाव हैं।
2. **ग्लानि** — आधि (मानसिक ताप) और व्याधि (शारीरिक कष्ट) के कारण शरीर का कांतिहीन हो जाना और किसी भी कार्य में उत्साह न रहना 'ग्लानि' उत्पन्न करता है। ग्लानि के कारण अपने बुरे कार्यों के प्रति हमारे मन में पश्चाताप या खेद की भावना उत्पन्न होती है। दोष अथवा अपराधबोध ही इसका जनक है। कंप, कृशता और विवर्णता (चेहरे का रंग उड़ जाना) आदि इसके अनुभाव हैं।
3. **शंका** — 'मेरा क्या अनिष्ट होने वाला है?' इस प्रकार चित्तवृत्ति को 'शंका' करते हैं। इसमें दुर्भाग्य, विपत्ति अपनी भूल तथा विरोधी से संभावित अनिष्ट की आशंका सदैव बनी रहती है। विवर्णता, स्वरभंग, कम्प और जीभ तथा कण्ठ का सूखना इसके अनुभाव हैं।
4. **असूया** — दूसरों की उन्नति देखकर उनके प्रति जो जलन अथवा असहनशीलता का भाव उत्पन्न होता है, उसे असूया कहते हैं। असूया के कारण किसी की संपत्ति-वृद्धि अथवा उसके सौभाग्यसुख और ऐश्वर्य का उत्कर्ष देखा नहीं जाता। अवज्ञा करना, भौंहें टेढ़ी करना, ईर्ष्यापूर्ण कटुवचन बोलना और दूसरों में दोष ढूँढ़ना इसकी पहचान के चिह्न अथवा अनुभाव होते हैं।
5. **मद** — इसे बेहोशी अथवा आनंद की मिश्रित अवस्था भी कहा जा सकता है। नशीली वस्तुओं के सेवन से यह भाव उत्पन्न होता है। अंगों और वचनों में लड़खड़ाहट, प्रलाप या हँसने-गाने और रोने-सोने की कुचेष्टाएँ ही इसके अनुभाव कहलाते हैं।

6. **आलस्य** — परिश्रम, जागरण, व्याधि तथा गर्भजन्य थकावट आदि के कारण आलस्य उत्पन्न होता है। इसमें जँभाई, अँगड़ाई तथा एक ही स्थान पर पड़े या बैठे रहने आदि के अनुभावों की गणना की जाती है।
7. **श्रम** — मार्ग चलने, अधिक व्यायाम करने और अपनी शक्ति अथवा क्षमता के बाहर जाकर काम करने से 'श्रम' उत्पन्न होता है। मुख सूखना, अँगड़ाई अथवा जँभाई लेना और निःश्वास छोड़ना जैसी क्रियाएँ इसके अनुभाव हैं।
8. **दैन्य** — दुःख, दरिद्रता मानसिक संताप और दुर्गति आदि कारणों से दैन्य भाव उत्पन्न होता है। इसमें ओजस्विता का अभाव और हीनता का बोध रहता है। विवर्णता और मलिनता आदि इसके चिह्न हैं।
9. **चिंता** — इष्ट की अप्राप्ति और अनिष्ट की प्राप्ति के कारण मन में जो बार-बार सोच का भाव उत्पन्न होता है, उसे चिन्ता कहते हैं। संताप, चित्त की शून्यता, अधोमुखता (मुँह लटकाना) और कृशता (दुबलापन आदि) अनुभावों से इसका वर्णन किया जाता है।
10. **मोह** — प्रियजन का वियोग, भय, व्याधि और शत्रु का प्रतिकार करने की अक्षमता आदि के कारण चित्त में एक प्रकार का जो व्यामोह अथवा विपेक्ष उत्पन्न होता है, उसे मोह कहते हैं। मोह में वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं रहता। चक्कर आना, गिर पड़ना, बेहोश हो जाना और चित्त की भ्रांति आदि क्रियाओं का वर्णन इसके अनुभाव कहलाते हैं।
11. **स्मृति** — पहले के अनुभव किये गये सुख अथवा दुःख के विषयों का स्मरण करना 'स्मृति' भाव है। पूर्वानुभूत विषयों अथवा वस्तुओं के समान वस्तुओं को देखने, सुनने और उनका चिंतन करने से यह भाव उत्पन्न होता है। सुख और दुःख की स्मृति के अनुसार ही इसकी कायिक, वाचिक और सात्विक भावों की चेष्टाएँ होती हैं।
12. **स्वप्न** — स्वप्न सुषुप्ति अवस्था का ही रूप है जिसमें हमारी दमित वासनाएँ अथवा अपूर्ण इच्छाएँ प्रकट होकर अपने विचित्र रंग दिखाती हैं। उनका वर्णन करना स्वप्न नामक संचारी भाव के अन्तर्गत आता है। क्रोध, आवेग, भय, ग्लानि तथा सुख और दुःख के व्यंजक अनेक अनुभाव इसमें वर्णित किये जाते हैं।
13. **धृति** — लोभ, मोह और भय आदि के उत्पन्न होने वाले उपद्रवों को दूर करने वाली चित्तवृत्ति को 'धृति' कहते हैं। तत्त्वज्ञान, इष्टवस्तु की प्राप्ति अथवा तथा विपत्तियों का निवारण होने से धृति उत्पन्न होती है। इसमें उल्लास, मधुर वचन, मुस्कान, शांति और चित्त की दृढ़ता आदि अनुभाव वर्णित किये जाते हैं।
14. **व्रीडा** — दूसरों के चित्त में अपने बारे में उत्पन्न होने वाली बुरी धारणा की आशंका से उत्पन्न संकोच का ही नाम व्रीडा अथवा लज्जा है। पराजय, हीनता, स्त्री-पुरुषों के परस्पर देखने और प्रतिज्ञारभंग और पराभव के अवसर आने पर चेहरे पर जो विवर्णता आदि छा जाती है वह सब व्रीडा ही है। इसकी कायिक चेष्टाओं में चेहरे का मुड़ना जाना, शर्म के मारे आँखें नीची झुकना तथा मुँह लटकाना आदि अनुभाव आते हैं।
15. **चपलता** — चित्त की अस्थिरता का नाम चपलता है जो ईर्ष्या, द्वेष, राग अमर्ष और मात्सर्य आदि भावों से उत्पन्न होती है। कठोरता, डाँट-फटकार, धिक्कारना,

भौंहें टेढ़ी करना, निरंकुश व्यवहार, कठोर वचन, डराना-धमकाना तथा दूसरों की भर्त्सना करना आदि आचरण इसके अनुभावों के अन्तर्गत आते हैं।

16. **हर्ष** — प्रिय वस्तु की प्राप्ति, प्रियजन का मिलना तथा इष्ट अर्थ की सिद्धि होने से जो सुख मिलता है, उसे हर्ष कहते हैं। इसमें मन की प्रसन्नता, प्रिय वचन, रोमांच, स्वेद, गद्गद् वाणी और प्रसन्न मुद्रा जैसे अनुभाव स्वतः ही प्रस्फुटित हो जाते हैं।
17. **विषाद** — असफलता, इष्टहानि, पराजय, भय एवं अपराध आदि के कारण चित्त में जो भाव उत्पन्न होते हैं, उसे विषाद कहते हैं। लम्बी आँखें भरना, आँसू बहाना, संतापित होना आदि इसके अनुभाव हैं।
18. **त्रास** — भयानक वस्तु या परिस्थिति का सामना होने पर त्रास उत्पन्न होना है। वज्रनिर्घात, उल्कापात आदि उत्पातों तथा अपने प्रबल अपराधों के कारण चित्त में उत्पन्न होने वाली व्यग्रता को ही त्रास कहते हैं। यह एक ऐसा संचारी भाव है जिसमें सहसा कम्प, स्वेद, निःश्वास, अश्रुपात और मलिन मुद्रा जैसे अनुभाव व्यक्त होते हैं।
19. **आवेग** — भयंकर उत्पात, विप्लव, अशांति तथा प्रिय एवं अप्रिय बात के सुनने आदि से उत्पन्न चित्त की घबराहट को आवेग कहते हैं। इसमें विस्मय, स्तम्भ, स्वेद, विवर्णता, शीघ्र गमन और कम्प आदि अनुभावों का समावेश रहता है।
20. **जड़ता** — चित्त की विवेकहीनता अथवा किंकर्तव्यविमूढता का ही नाम जड़ता है। इष्ट तथा अनिष्ट को देखने अथवा सुनने से इसकी उत्पत्ति होती है जिसमें चेष्टा का अभाव, टकटकी लगाकर अपलक नेत्रों से दृष्टिपात और मौन जैसे अनुभाव प्रकट होते हैं।
21. **गर्व** — रूप, धन, बल और विद्या आदि के कारण उत्पन्न अभिमान का ही नाम गर्व है। इसमें दूसरों के प्रति अविनय, अवज्ञा और अपेक्षा का भाव रहता है।
22. **औत्सुक्य** — किसी वस्तु की प्राप्ति की सहसा इच्छा करना ही औत्सुक्य अथवा उत्सुकता है। उत्सुकता में वस्तु के लाभ के प्रति उत्कट अभिलाषा रहती है जिसमें होने वाला विलम्ब असहनीय सा लगता है। दीर्घ निःश्वास, त्वरा (जल्दबाजी) स्वेद और संताप आदि इसके प्रमुख अनुभाव हैं।
23. **निद्रा** — परिश्रम अथवा थकान आदि के कारण जब बाहरी विषयों से एक प्रकार की निवृत्ति सी हो जाती है तो उसे निद्रा कहते हैं। निद्रा में थोड़े समय के लिए चेतना निश्चेष्ट हो जाती है जिससे शारीरिक और मानसिक विश्राम मिलता है। परिश्रम, खेद, नशा तथा सुलाने वाली दवाईयाँ भी निद्रा के कारण होते हैं। जँभाई, अँगड़ाई, उच्छ्वास और आँखें मीचना (मूँदना) आदि इसके अनुभाव हैं।
24. **अपस्मार** — वियोग, शोक, भय एवं जुगुप्सा आदि की प्रबलता से तथा भूत-प्रेत आदि की बाधा से उत्पन्न व्याधि को अपस्मार (मृगी रोग) कहते हैं। वीभत्स और भयानक रस में यह संचारी भाव के रूप में प्रयुक्त होता है। हृदय की दुर्बलता, आघात और वेदना इसके मूल कारण हैं। गिरना, काँपना, मुँह से झाग निकलना, पसीना आना और इसके इधर-उधर भागते फिरना इसके अनुभाव हैं।

25. **विमोद** — निद्रा की समाप्ति तथा अज्ञान की निवृत्ति होने के पश्चात् जो आत्मबोध अथवा चैतन्यलाभ होता है उसे 'विमोद' कहते हैं। इसके अनुभावों के अन्तर्गत उबासी, आँखें खोलना और बंद करना तथा अपने अंगों को देखना आदि कायिक चेष्टाएँ परिगणित होती हैं।
26. **अमर्ष** — दूसरों के द्वारा की गई निंदा, आक्षेप और अपमान आदि के कारण उत्पन्न चित्तवृत्ति को 'अमर्ष' कहते हैं। विरोध का अपकार न कर पाने की असमर्थता से भी इसकी उत्पत्ति मानी गई है। अपमान, मानहानि और निंदा आदि भावों की असहिष्णुतावश यह उदीप्त होती है, जिसके कारण आँखें लाल होना, भौंहें चढ़ाना, डाँटना-फटकारना, कठोर वचन कहना, तर्जना देना और सिर हिलाना आदि उसके अनुभाव कहलाते हैं।
27. **उग्रता** — अपमान आदि से उत्पन्न होने वाली निर्दयता ही उग्रता कहलाती है। इसके मूल में दूसरों की निंदा, उपराध और अपमान आदि हेतु निहित हैं। डाँट-फटकार, प्रताड़ना, प्रस्वेद, शिरकम्पन, वध, बंध और भर्त्सना आदि इसके अनुभाव हैं। उग्रता क्रोध से भिन्न है जिसकी गणना संचारी भावों में की जाती है जबकि क्रोध रौद्र रस का स्थायी भाव है।
28. **अवहित्था** — लज्जा आदि से उत्पन्न हर्ष आदि भावों को छिपाने की प्रवृत्ति को अवहित्था कहते हैं। भव, गौरव, लज्जा, शंका और उत्सुकता आदि कारणों से इसकी उत्पत्ति होती है। कोई बहाना बनाकर किसी अन्य कार्य में लग जाना, दूसरी ओर देखना, बात या प्रसंग बदल देना, अकारण जँभाई लेना, मुँह लज्जा के कारण नीचे करना आदि इसके अनुभाव हैं।
29. **उन्माद** — काम, शोक, भय, दुश्चिन्ता, मानसिक आघात आदि कारणों से जब चित्त भ्रमित हो जाता है तो उसे 'उन्माद' कहते हैं। इसमें अकारण हँसना, रोना, गाना, बोलना तथा विचारशून्य वाक्य कहना आदि चेष्टाएँ अनुभाव रूप में वर्णित की जाती हैं।
30. **व्याधि** — रोग और वियोग आदि से उत्पन्न मन के संताप को 'व्याधि' कहते हैं। इसमें वात, पित्त और कफ की वृद्धि होने के कारण विरहव्यथा और भी बढ़ जाती है जिससे वह रोग का रूप धारण कर लेती है। कंप, ताप, प्यास, पांडुता (शरीर का पालीपन) और प्रस्वेद (पसीना आना) आदि इसके अनुभाव हैं।
31. **मति** — शास्त्र आदि का अनुशीलन करने तथा तर्क और विचार आदि से किसी तथ्य का निर्णय अथवा तत्त्व का निर्धारण करने का नाम ही मति है। इसमें निश्चित वस्तु का संशयरहित स्वयं का अनुष्ठान का उपदेश अथवा संयोग, धैर्य, मुस्कुराहट तथा अपने प्रति आस्था रखने की प्रवृत्ति अनुभाव रूप में वर्णित की जाती हैं।
32. **वितर्क** — संदेह के कारण विचार उत्पन्न होना 'वितर्क' कहलाता है। इसमें कार्य और अकार्य का निश्चय नहीं हो पाता। भ्रूभंग, शिरकम्प और आँखें मीचना आदि इसके अनुभाव हैं।
33. **मरण** — वियोग, आघात अथवा शोक के कारण प्राणत्याग करना मरण कहलाता है। शृंगार रस में साक्षात् मरण की व्यंजना अमांगलिक मानी जाती है अतः उसका वर्णन प्रायः मरण की प्रथम अवस्था अथवा वियोग शृंगार में शरीरत्याग की चेष्टा

के रूप में ही प्रायः किया जाता है। भूमि पर गिरना तथा निष्चेष्ट हो जाना आदि इसके अनुभाव माने जाते हैं।

### बोध/अभ्यास प्रश्न

#### I. बोध प्रश्न

निम्न प्रश्नों के उत्तर लिखिए –

- क. विभाव कितने प्रकार के होते हैं?
- ख. स्थायी भावों की संख्या आचार्यों ने कितनी मानी है?
- ग. भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में सात्त्विक अनुभावों के कितने भेद माने हैं?
- घ. संचारी भाव कितने प्रकार के माने गये हैं?
- ङ. अनुभाव कितने प्रकार के माने जाते हैं?

#### II. अभ्यास प्रश्न

1. भाव का परिचय लिखिये।
2. विभाव के परिचय पर लेख लिखिये।
3. काव्य के स्वरूप को लिखिये।

---

### 8.3 सारांश

---

संस्कृत काव्यशास्त्र से सम्बन्धित इस इकाई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि रस, भाव, विभाव अनुभाव इत्यादि क्या हैं? इसके विषय में वर्णन किया गया है। भरतमुनि ने अपने 'रसनिष्पत्ति' सूत्र में 'व्यभिचारी' के नाम से जिन भावों का संकेत किया था, वे कालांतर में संचारी के नाम से अधिक प्रचलित और प्रयोगगत हो गये। व्यभिचारी शब्द का प्रयोग (हीन अर्थ में) ऐसे व्यक्ति के लिए भी किया जाता है जो दुराचारी अथवा लम्पट हो। अस्तु, इन दोनों में से किसी भी शब्द को स्वेच्छापूर्वक प्रयुक्त करने के लिए सभी व्यक्ति स्वतंत्र हैं क्योंकि दोनों ही शब्द संचरणशील भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। व्यभिचारी अथवा संचारी भाव संचरणशील अथवा अस्थिर मनोवृत्तियों के द्योतक हैं। वे स्थायी भावों की तुलना में कम समय तक टिकते हैं। इस प्रकार के भावों से कभी हर्ष-विवाद, कभी लज्जा-चिंता और कभी उत्सुकता अथवा शंका व्यक्त होती है किन्तु उनका प्रकटीकरण स्थायी भावों के उपचय में बाधक नहीं बनता। तथ्य यह है कि परिस्थिति विशेष में स्थायी भाव भी अपने मूल (नियत) रस से हटकर अन्य रसों में भाव बन जाता है। जैसे रति और शोक भाव क्रमशः शृंगार और करुण रस से निकल कर अन्य रसों में संचारी भाव के भी रूप धारण कर लेते हैं। इन सबका वर्णन इस इकाई में किया गया है।

---

### 8.4 शब्दावली

---

| शब्द       | अर्थ     |
|------------|----------|
| विवेकहीनता | अज्ञानता |
| दृष्टिपात  | देखना    |
| अवज्ञा     | न मानना  |
| औत्सुक्या  | उत्सुकता |

## 8.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, उमाशंकर शर्मा ऋषि, चौखम्बा विश्वभारती प्रकाशन, वाराणसी
2. काव्यप्रकाश, आचार्यविश्वेश्वर, चौखम्बा विश्वभारती प्रकाशन, वाराणसी
3. वैदिक साहित्य, कपिलदेव द्विवेदी, चौखम्बा विश्वभारती प्रकाशन, वाराणसी

## 8.6 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

### I. बोध प्रश्नों के उत्तर

- क. विभाव दो प्रकार के होते हैं— 1. आलम्बन विभाव और 2. उद्दीपन विभाव।
- ख. स्थायी भावों की संख्या आचार्यों ने नौ मानी है।
- ग. भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में सात्विक अनुभावों के आठ भेद माने हैं।
- घ. संचारी भाव के तैंतीस प्रकार के माने गये हैं।
- ङ. अनुभाव कितने प्रकार के माने जाते हैं— 1. कायिक 2. वाचिक 3. आहार्य और 4. सात्विक।

### II. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर छात्र स्वयं लिखेंगे।

---

## इकाई 9 भरत के अनुसार रसों की संख्या और विवेचन

---

### इकाई की रूपरेखा

- 9.0 उद्देश्य
- 9.1 प्रस्तावना
- 9.2 भरत के अनुसार रसों की संख्या और विवेचन
- 9.3 सारांश
- 9.4 शब्दावली
- 9.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 9.6 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

---

### 9.0 उद्देश्य

---

इस इकाई के अध्ययन से आप :

- शृंगार रस के विषय में परिचित होंगे।
- हास्य रस के विषय में परिचित होंगे।
- करुण रस के विषय में परिचित होंगे।
- रौद्र रस के विषय में परिचित होंगे।

---

### 9.1 प्रस्तावना

---

संस्कृत काव्यशास्त्र से सम्बन्धित इस इकाई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि साहित्यशास्त्र में अनुसार भरत के अनुसार रसों की संख्या और विवेचन क्या है? इसके विषय में वर्णन किया गया है। भरत का कथन है की प्रजापति ब्रह्मा ने वीर रस के तीन ही भेद प्रतिपादित किये हैं। वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है। उत्साह नामक स्थायी भाव ही वीर रस का रूप धारण कर लेता है। वीर रस के तीन भेद होते हैं। आचार्य विश्वनाथ कविराज ने –‘दयावीर’ नामक वीर रस का चतुर्थ भेद भी स्वीकृत किया है। जैसे— जीमूतवाहन द्वारा नाग को बचाने हेतु अपने शरीर का दान करना है। भरत मुनि भयानक रस के तीन भेदों का निरूपण किया गया है। भयानक रस का स्थायी भाव भय होता है। भय स्थायी भाव जाग्रत होकर भयानक रस के रूप में परिवर्तित हो जाता है। भरत मुनि ‘वीभत्स रस’ के तीन भेदों का प्रतिपादन कर रहे हैं। वीभत्स त्रिविध भेदः— वीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा है। जुगुप्सा नामक स्थायी भाव जाग्रत होकर ‘वीभत्स रस’ का रूप धारण कर लेता है। इसके तीन भेद निम्नानुसार अवलोकनीय हैं। सम्प्रति भरत मुनि ‘अद्भुत रस’ के भेदों का प्रतिपादन कर रहे हैं। अद्भुत द्विधा भेद :— अद्भुत रस का स्थायी भाव ‘विस्मय’ है। ‘विस्मय’ स्थायी भाव जाग्रत होकर ‘अद्भुत रस’ का रूप धारण कर लेता है।

## 9.2 भरत के अनुसार रसों की संख्या और विवेचन

**शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानका : । वीभत्सादभुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये**

भरतमुनि रचित नाट्यशास्त्र में शृंगार, हास्य करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अद्भुत ये आठ रस स्वीकार किए गए हैं।

भरत मुनि संग्रह के प्रथम अंग 'रस' का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं। रस :- रस्यते इति रसः। जिससे आनन्द प्राप्त हो वह 'रस' कहलाता है। भरत मुनि के अनुसार तत्र **विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः** अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। नाट्य:- अभिनवभारतीकार अभिनवगुप्त के अनुसार 'नट द्वारा प्रदर्शित अभिनय के फलस्वरूप साक्षात् रूप से दृश्यमान अर्थ 'नाट्य' कहलाता है। उन्होंने 'रस' को ही 'नाट्य' कहा है- 'रस एवं नाट्यम्' तथा 'नाट्य' को ही रस कहा है। नाट्यं एव रसः। भरत मुनि अनुसार किसी भी नाटक में आठ रस होते हैं। उनमें एक अंगी रस होता है तथा अन्य अङ्ग रस। भरत के अनुसार नाटक में आठ रस तथा उनके आठ स्थायी भाव होते हैं। जो भाव रस के आस्वादन पर्यन्त अविच्छिन्न रूप से स्थिरतापूर्वक अवस्थित रहते हैं वे 'स्थायी भाव' कहलाते हैं- 'रसावत्थः परं भाव स्थायितां प्रतिपद्यते।

भरतमुनि द्वारा रचित नाट्य शास्त्र में शृंगार, हास्य करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अद्भुत ये आठ रस हैं इन आठों रसों का क्रमशः विवेचन किया जा रहा है।

### 1. शृंगार रस

इनमें शृंगार रस रतिनामक स्थायीभाव से उत्पन्न होता है। यह उज्ज्वल स्वरूप वाला होता है। इस संसार में जो कुछ पवित्र है, पूजनीय है, शुभ्र है तथा दर्शनीय है उसकी शृंगार द्वारा उपमा दी जाती है यथा उज्ज्वल वेशधारी व्यक्ति को शृंगारवान् कहा जाता है।

जिस प्रकार लोगों के नाम गोत्र, कुल एवं आचार के अनुसार तथा आप्त पुरुष के कथन पर आधारित होते हैं, उसी प्रकार इन रसों, भावों एवं नाट्याश्रित अर्थों के नाम-व्यवहार तथा आप्त पुरुषों के उपदेश पर आधारित होते हैं। इस प्रकार शृंगार रस अनेक आचारयुक्त, चितरंजक एवं उज्ज्वल वेश से सम्पन्न होता है उत्तम प्रकृति वाले नायक एवं नायिक इस शृंगार रस के हेतु होते हैं।

### 1. शृंगार रस के दो भेद

इसके दो अधिष्ठान हैं - संयोग एवं विप्रलम्भ। इनमें सम्भोग शृंगार ऋतु, पुष्प माला, सुगन्धित अंगराग, अलंकार, इष्ट जन, विषय, सुन्दर भवन का उपभोग, उपवन में विहार, अनुभव श्रवण दर्शन एवं लीलादि विभावों से उत्पन्न होता है।

### 1. सम्भोग शृंगार

इस संभोग शृंगार का अभिनय नेत्रों के चातुर्य से, भ्रुविक्षेप से, कटाक्ष से, ललित मधुर अंगहारों से एवं प्रिय वाक्यों आदि अनुभवों से करना चाहिए। इस शृंगार रस के व्यभिचारीभाव आलस्य, उग्रता एवं जुगुप्सा को छोड़कर शेष होते हैं।

2) **विप्रलम्भ शृंगार :-** विप्रलम्भ शृंगार का अभिनय:- निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, स्वप्न, विबोध, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य (मोह)

एवं मरण आदि अनुभावों द्वारा करना चाहिये।

यह (शंका) यदि शृंगार रति से उत्पन्न होता है तो इसमें करुण रसाश्रयी भाव क्यों होते हैं? (उत्तर) पहले ही कहा गया है कि शृंगार के संयोग एवं विप्रलम्भ ये दो भेद होते हैं। कामशास्त्रकारों ने भी काम की दस दशाओं का कथन किया गया है।

करुण रस शाप एवं क्लेश में पड़े हुए इष्ट जन, विभवनाश, वध और बन्धन आदि से उत्पन्न तथा निरपेक्षभाव वाला होता है। विप्रलम्भ में उत्सुकता एवं चिन्ता से उत्पन्न सापेक्षभाव (आशा) रहता है। इस प्रकार करुण रस अलग है और विप्रलम्भ अलग। इस प्रकार सभी भावों से युक्त शृंगार रस होता है।

**शृंगार की उत्पत्ति :-** जब नायक नायिका देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार उत्तम मालाएँ एवं अलंकार धारण करते हैं। जब प्रेम नायक— नायिका परस्पर मिलकर गाते हैं, काव्य का निर्माण करते हैं तथा वन, उपवन आदि में गमन कर विहारादि कियाएँ करते हैं, तब शृंगार रस की उत्पत्ति होती है। काम के उद्भेद से शृंगार रस उत्पन्न होता है।

नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि ने शृंगार रस का विवेचन प्रस्तुत किया है :-

**शृंगार लक्षण :-** शृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' है। यह उज्ज्वल, पवित्र, पूजनीय, शुभ्र दर्शनीय होता है। उत्तम प्रकृति वाले नायक— नायिका द्वारा सुन्दर उज्ज्वल चमकते दमकते चित्ताकर्षक वेश धारण करने से शृंगार रस सम्पन्न होता है।

जो रस नायक नायिका को अत्यन्त सुख प्रदान करता है:- जो रस ऋतु कालोद्भव पुष्प मालाएँ धारण करने वाले ऐसे नायक नायिका का मनोरंजन करता है तथा जिसमें पुरुष से युक्त स्त्री हों अर्थात् जिसमें नायक व नायिका का मिलन हो। वह शृंगार रस कहलाता है।

**शृंगार रस में :-**

- |                                |                           |
|--------------------------------|---------------------------|
| नायक / नायिका                  | — आलम्बन विभाव।           |
| उपवन, ऋतुत्र प्रकृति आदि       | — उद्दीपन विभाव।          |
| भू विपेक्ष, कटाक्ष, रोमांच आदि | — अनुभाव                  |
| लज्जा और औत्सुक्य आदि          | — व्यभिचारी भाव होते हैं। |

इनके संयोग से जब रति नामक स्थायी भाव जाग्रत हो जाता है तो वह शृंगार रस का रूप धारण कर लेता है।

सम्भोग शृंगार रस में :- नायक नायिका परस्पर दर्शन, स्पर्श, चुम्बन, आलिंगन, मर्दन एवं अनिर्वचनीय आनन्द प्रदात्री "रति क्रिया" होती हैं।

विप्रलम्भ शृंगार में :- इसमें नायक व नायिक का वियोग एवं उन्हें काम अवस्थाओं की अनुभूति होती है।

भरत मुनि का मत है कि—रंगमंच पर नट—नटी को शृंगार रस का अभिनय निम्न रीति से करना चाहिए। परस्पर मुस्कुराते हुए रत्युत्पादक मधुर वचन बोलने

चाहिए। नायक व नायिका जब जब मिले तब उन्हें अपने नेत्रों तथा मुख से प्रसन्नता के हाव भाव प्रकट करने चाहिए। परस्पर मुस्कुराते हुए रत्युत्पादक मधुर वचन बोलने चाहिए तथा धृति एवं प्रमोद पूर्वक मधुर अंग संचालन करते हुए विहार करना चाहिए अर्थात् सुन्दर ललित आकर्षक चाल से चलते हुए एक दूसरे को आकर्षित करना चाहिए। इस प्रकार शृंगार रस का अभिनय करना चाहिए।

## 2. हास्य 'हास'

### हास्य 'हास' का लक्षण

हास्य 'हास' स्थायी भाव वाला रस होता है। यह हास्य किसी व्यक्ति के विकृत वेश, अलंकार, धृष्टा, लालच, कुहक (कुक्षि या ग्रीवादि के स्पर्श) मिथ्या संवाद विकृत अंग एवं अवगुणों के दर्शन आदि विभावों द्वारा उत्पन्न किया जाता है। इस हास्य रस का होंठ, नाक एवं गालों के स्पन्दन आखों को खोलने एवं सिकोड़ने, पसीना, मुख को लाल करने, पार्श्वों के दबाने, आदि अनुभवों के द्वारा अभिनय किया जाना चाहिए। इसके अवहित्था, आलस्य, तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न प्रबोध एवं असूया आदि व्यभिचारी भाव हैं।

### हास्य रस के दो भेद—

हास्य रस के दो भेद हैं :— 1. आत्मस्थ एवं 2. परस्थ।

### परस्थ हास्य भरतमुनि द्वारा हास्य रस का वर्णन—

हास्य का लक्षण :— हास्य रस का स्थायी भाव हास है। इसके दो भेद होते हैं आत्मस्थ व परस्थ। स्वयं का स्वयं पर हंसना आत्मस्थ हास्य तथा दूसरों को हंसाना परस्थ हास्य कहलाता है।

हास्य की उत्पत्ति :— जब किसी नाटकादि में कोई विदूषक आदि पात्र विपरीत स्थान पर अलंकार धारण कर लेता है (जैसे करधनी को गले में पहनना/माला को कमर में बाँध देना आदि) वह विकृत आचार व्यवहार करता है, उसका विकृत नाम हो, वह विकृत वस्त्रों को धारण करता है तथा विकृत भाषा बोलता हो। ऐसा करता हुआ वह स्वयं हंसता है एवं दर्शकों को हंसाता है, वह 'हास्य रस' कहलाता है।

पुनश्च भरत मुनि कह रहे हैं कि :— यदि किसी नाट्य में विदूषक आदि पात्र अपने विकृत आचार, विचार एवं व्यवहार द्वारा, विकृत वाक्य प्रयोग द्वारा, विकृत अंगों के विकारों द्वारा तथा विकृत वेश धारण करके क्योंकि वह उपस्थित दर्शकों को हंसाता है अतः वहाँ हास्य रस होता है।

हास्य रस में :—

|                         |    |                        |
|-------------------------|----|------------------------|
| विकृत वेषधारी विदूषकादि | :— | आलम्बन विभाव           |
| विदूषक की चेष्टाएँ      | :— | अनुभाव                 |
| आलस्य आदि               | :— | व्यभिचारी भाव होते हैं |

इनके संयोग से जब 'हास' नामक स्थायी भाव जाग्रत हो जाता है, तब वह 'हास्य रस' का रूप धारण कर लेता है।

**हास्य का अभिनय :-** भरत मुनि का मत है कि—किसी भी नाटक में देश, काल एवं परिस्थिति वश जैसा भी हास्य का अवसर प्राप्त हो, उसमें उत्तम मध्यम तथा अधम पात्रों के अनुसार हास्य रस का अभिनय करना चाहिए। किसी नाटक में अभिनेता पात्र का स्वयं पर हंसना उस नाटक में जान फूँक देता है।

नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरत मुनि 'हास्य रस' के 6 भेदों का प्रतिपादन कर रहे हैं। भरत मुनि का कथन है कि —स्त्रियों में तथा नीच स्वभाव वाले पुरुषों में यह हास्य रस अत्यधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होता है अर्थात् स्त्रियाँ तथा नीच पुरुष अत्यधिक हँसते रहते हैं।

**हास्य के भेद :- 'हास्य रस' के 6 भेद होते हैं।**

स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित तथा अतिहसित। उत्तम, मध्यम एवं अधम प्रकृति लोगों में इसके क्रमशः दो— दो भेद घटित होते हैं अर्थात् उत्तम जन में :- स्मित, हसित

मध्यम जन में :- विहसित व उपहसित।

अधम जन में :- अपहसित व अतिहसित हास्य रस होता है।

उत्तम जन हास्य :- राजा रानी विद्वान् विदूषी ज्ञानी तथा समत्व योगी आदि उत्तम स्त्रियों तथा पुरुषों के हास्य को 'स्मित' तथा 'हसित' कहते हैं।

- 1) **स्मित** — कुछ खिले हुए गाल, नेत्रों के सुन्दर कटाक्ष, अलक्षित दन्त पंक्ति युक्त हास्य को 'स्मित' हास्य कहा जाता है।
- 2) **हसित** — विकसित मुख एवं नयन, खिले हुए गाल तथा किंचित लक्षित दन्त पंक्ति युक्त हास्य को—'हसित हास्य' कहा जाता है। मध्यम जन हास्य :- मन्त्री, व्यापारी, कृषक आदि सामान्य प्रजा के हास्य को विहसित एवं उपहसित कहा जाता है।
- 3) **विहसित** — सिकुड़े हुए नेत्र एवं गालयुक्त मधुर शब्द युक्त समयानुकूल एवं कुछ रागमय मुख युक्त हास्य विहसित हास्य है।
- 4) **उपहसित** — जिस में, नाक फूल जाए, दृष्टी टेढ़ी हो जाए, तथा सिर एवं अन्य अंग नीचे झुक जाए—वह उपहसित हास्य कहलाता है। अधम जन हास्य :- काम, क्रोध, लोभ मोह, मद, मात्सर्य आदि दुर्गुणों वाले नीच, अधम एवं दुष्ट स्त्रियों तथा दुष्ट पुरुषों के हास्य को अपहसित अथवा अतिहसित कहा जाता है।
- 5) **अपहसित** :- अनवसर हास्य, साश्रुपूर्ण नयन हास्य, तथा स्कन्ध एवं शिर में कम्पन्न उत्पन्न कर देने वाले हास्य को अपहसित कहा जाता है।
- 6) **अतिहसित**:- अश्रुपूर्ण नयन युक्त श्रवणकटु स्वर युक्त, उद्धत तथा जिसके वेग को रोकने हेतु पसलियों को हाथ से दबाना पड़े, ऐसे हास्य को 'अपहसित' कहा जाता है। विद्वानों के अनुसार :- किसी व्यक्ति के 'स्मित' हास्य को देखकर, देखने वाले व्यक्ति को अनिवर्चनीय आनन्द प्राप्त होता है।

नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि उत्तम प्रकृतिगत मनुष्यों के द्विविध हास्य का वर्णन करते हैं।

(1) 'स्मित' हास्य, (2) हसित हास्य

**उत्तम प्रकृति जन :-** धीरोदात्त नायक, नायिका, राजा, मन्त्री, विद्वान् ज्ञानी आदि जन, उत्तम प्रकृति वाले होते हैं। उत्तम प्रकृति वाले लोगों का हास्य 'स्मित' तथा 'हसित' होता है। जब रंगमंच पर नट- नटी, विदूषक अथवा अन्य किसी पात्र के संवादों या उनके क्रिया कलापों को देखकर अथवा व्यावहारिक जीवन में किसी दृश्य को देखकर अथवा किसी वार्तालाप को सुनकर, उत्तम प्रकृति जन में जो हास्य प्रस्फुटित होता है वह दो प्रकार का होता है- स्मित और हसित।

- 1) **'स्मित' हास्य :-** जब उत्तम जन हंसता है तब उसके गाल कुछ विकसित हो जाते हैं। वह नेत्रों के सुन्दर कटाक्षों से इतस्ततः देखता है। हंसते समय उसकी दन्त पंक्ति दिखाई नहीं देती है तथा उसकी हंसी धीर गम्भीर होती है। ऐसे हास्य को स्मित कहा जाता है। यह उत्तम जनों में होता है।
- 2) **हसित हास्य :-** हास्य उत्पादक किसी दृश्य को देखकर जब दृष्टा व्यक्ति का मुख तथा नेत्र विकसित हो जाते हैं। तथा कुछ-कुछ दन्त पंक्ति दिखाई देने लगती है तो ऐसे हास्य को हसित हास्य कहा जाता है।

विशेष -हास्य की मन्दता स्मित कहलाती है तथा कुछ बढ़ने पर वह ही हसित कहलाती है।

पुनः आचार्य भरत मुनि मध्यम प्रकृतिगत मनुष्यों के द्विविध हास्य का प्रतिपादन करते हैं -

**ख) मध्य प्रकृति जन :-**राजमन्त्री, राजपुरोहित, व्यापारी, कृषक आदि मध्यम प्रकृति वाले होते हैं। मध्यम प्रकृति वाले लोगों का हास्य 'विहसित' तथा 'उपहसित' होता है। रंगमंच पर नट- नटी के अभिनय अथवा व्यावहारिक किसी घटना विशेष को देखकर मध्यम प्रकृति वाले प्रकृति में जो हास्य उत्पन्न होता है वह 'विहसित' तथा 'उपहसित' कहलाता है।

- 3) **विहसित हास्य -**जब मध्यम स्वभाव वाला व्यक्ति हंसता है जब उसके गाल तथा नेत्र सिकुड़ जाते हैं। उसका हास्य मधुर शब्दों से परिपूर्ण होता है। मध्यम प्रकृति जन देश काल एवं परिस्थिति के अनुसार, समयानुकूल हँसता है। साथ ही जब वह हँसता है, तब उसका मुख लालिमा युक्त हो जाता है। इस प्रकार के गुण धर्मों वाला हास्य विहसित कहलाता है।
- 4) **उपहसित हास्य :-** किसी हास्योत्पादक दृश्य को देखकर यदि देखने वाले व्यक्ति की नाक फूल जाती है। वह टेढ़ी दृष्टि से इतस्ततः देखने लग जाता है तथा उसके अंग तथा सिर नीचे की तरफ झुक जाते हैं ,तो ऐसे हास्य को 'उपहसित' हास्य कहा जाता है।

विशेष :- 'विहसित' विहसित हास्य ही उत्पन्न होकर 'उपहसित हास्य' में परिवर्तित हो जाता है।

**नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि 'अधम प्रकृति हास्य का प्रतिपादन करते हैं।**

**अधम प्रकृति जन :-** काम क्रोध लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य आदि दुर्गुणों वाले नीच, अधम एवं दुष्ट स्वभाव वाले स्त्री व पुरुष अधम प्रकृति वाले होते हैं। अधम प्रकृति वाले लोगों का हास्य अपहसित तथा अतिहसित कहलाता है । रंगमंच पर नायक - नायिका के अभिनय अथवा पुरो दृश्यमान किसी घटना विशेष को

देखकर अधम स्वभाव वाले पुरुष व स्त्री में जो हास्य समुत्पन्न होता है । वह अपहसित , अतिहसित कहा जाता है ।

- 5) **अपहसित हास्य :-** जब कोई अधम स्त्री अथवा पुरुष देश काल एवं परिस्थिति को देखे बिना अनुचित स्थान पर अनवसर हंसता है। हंसते समय उस अधम स्त्री अथवा पुरुष के आंखों से अश्रु निकलने लग जाए तथा उसका कन्धा एवं सिर हिलने लग जाए तो ऐसा हास्य अपहसित कहलाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार अस्थान हसित से तात्पर्य है। अनुपयुक्त अवसर पर हंसना। जैसे शोकादि के समय हंसना अस्थान हास्य कहलाता है।
- 6) **अतिहसित हास्य :-** जब अधम प्रकृति जन हंसता है तब हंसते – हंसते उसके नेत्रों में आँसु आ जाए, जो हास्य सुनने पर श्रवणकटु प्रतीत हो, जो हास्य उद्धत हो तथा जिस हास्य के आवेग को दबाने हेतु अपने हाथों से पसलियों को दबाना पड़े तो ऐसा हास्य 'अतिहसित' हास्य कहलाता है।

**ठहाका हास्य :- भरत मुनि सम्मत षट् हास्यों का वर्णन स्वरूप है :-**

ठहाका हास्य –विद्वानों का यह भी मत है कि 'ठहाका हास्य' भरत मुनि सम्मत उक्त षट् हास्यों से भिन्न ही है। इसका अन्तर्भाव किसी भी हास्य में नहीं हो सकता है क्योंकि उत्तम प्रकृति के स्त्री –पुरुष ही ठहाका लगाने में समर्थ होते हैं, सामान्य जन नहीं।

ठहाका हास्य :- यह हास्य स्वयं ठहाका लगाने वाले को ताकि अन्य ठहाका सुनने वाले श्रोताओं को अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान करता है। ईशकृपा होने पर ही 'ठहाका लगता' है एवं 'ठहाका सुनने' को मिलता है।

आचार्य भरत मुनि 'हास्य रस का अभिनय करने का निर्देश दे रहे हैं कि:-जब भी किसी नाटक को मंचित करते समय प्रसंगवश जो भी हास्य के अवसर प्राप्त हों। सूत्रधार को चाहिये कि वह उस हास्य के अवसर को पहचाने तथा अपने नट- नटी द्वारा हास्य का अभिनय कराए। उत्तम स्वभाव के राजा आदि पात्रों, मध्यम स्वभाव के मन्त्री आदि पात्रों तथा अधम प्रकृति वाले दुष्ट आदि पात्रों के अनुसार ही हास्य रस के षट् भेदों का सम्यक् प्रयोग करना चाहिये। उदाहरण :- जैसे धीरोदत्त नायक –नायिका का मिलन हो तब 'स्मित' तथा 'हसित' हास्य का प्रयोग करना चाहिए।

आचार्य भरत मुनि का कथन है कि :- इस प्रकार हास्य रस के 2 भेद होते हैं अर्थात् यह हास्य रस स्वसमुत्थ तथा परसमुत्थ इन 2 भेदों वाला, त्रिविध प्रकृति वाला तथा त्रिविध अवस्थाओं वाला होता है। हास्य रस के दो भेद :-

**स्वसमुत्थ :-** स्वयं हँसना

**परसमुत्थ :-** उपस्थित दर्शकों को हँसाना

ख) हास्य की त्रिविध प्रकृति :-

- 1) उत्तम प्रकृति जनगत हास्य :- नायक, नायिका का।
- 2) मध्यम प्रकृति जनगत हास्य :- मन्त्री, विद्वान् का।
- 3) अधम प्रकृति जनगत हास्य :- नीच जनों का।

ग) हास्य की त्रिविध अवस्थाएँ :-

- 1) स्मित/मुस्कुराना , हसित / कुछ अधिक मुस्कुराना
- 2) विहसित/मधुर हास्य :- कुछ अधिक मधुर हास्य
- 3) उपहसित :- अधिक हंसना / अधिकाधिक हंसना।

इस प्रकार भरत मुनि द्वारा 'हास्य रस' का विवेचन किया गया है।

विशेष :-विद्वानों के अनुसार :- 'स्मित हास्य', हसित हास्य, 'ठहाका हास्य' — ये हास्य रस के नृप कहलाते हैं।

### 3—करुण रस

**करुण रस का लक्षण :-** करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' है। शोक स्थायी भाव ही जाग्रत होकर 'करुण' रस में परिवर्तित हो जाता है।

**करुण की उत्पत्ति :-** जब किसी नाटकादि में अथवा व्यावहारिक जीवन में कोई दृष्टा अपने प्रिय व्यक्ति का वध मृत्यु देखता है अथवा प्रिय व्यक्ति की मृत्यु के विषय में सुनता है। अथवा कोई व्यक्ति अपने शत्रु के हृदय विदारक अप्रिय शब्दों को सुनता है। अथवा इसी प्रकार के अन्य भाव विशेष व्यक्ति के समक्ष उपस्थित होते हैं तब करुण रस उत्पन्न होता है। यह करुण रस शाप, क्लेश, पतन, प्रियजन वियोग, सम्पत्ति हानि, वध, बन्धन विद्रव, उपघात, व्यसन आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है। करुण रस में

प्रियजन मृत्यु आदि :- आलम्बन विभाव।

नट आदि की दुःखद चेष्टाएँ :- अनुभाव।

निर्वेद चिन्ता आदि :- व्यभिचारी भाव है।

इनके संयोग से जब 'शोक' नामक स्थायी भाव जाग्रत हो जाता है तो वह करुण रस का रूप धारण कर लेता है।

**करुण रस का अभिनय :-** भरत मुनि का कथन है कि—किसी भी नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करते समय नट नटी को फूट- फूट कर रोने के द्वारा, मूर्च्छित हो जाने के द्वारा, पश्चाताप करने के द्वारा, विलाप करने के द्वारा, देह पटकने के द्वारा तथा हाथ उठा उठाकर छाती पीट पीटकर रोने के द्वारा 'करुण रस का अभिनय करना चाहिये।

### एको रसः करुण एव निमित्तभेदात् — उत्तररामचरितम्

महाकवि भवभूति करुण रस को ही मानते हैं।

### 4—रौद्र रस

- 1) **रौद्र की लक्षण :-** रौद्ररस का स्थायी भाव क्रोध होता है। क्रोध स्थायी भाव जाग्रत होकर रौद्र रस का रूप धारण कर लेता है।
- 2) **रौद्र की उत्पत्ति :-** जब किसी नाटक में अथवा व्यावहारिक जीवन में— राक्षस, दानव तथा उद्धत प्रकृति के लोगों में परस्पर युद्ध होता है तब रौद्र रस उत्पन्न होता है। यह रौद्र रस दो अथवा अनेक योद्धाओं के परस्पर युद्ध करने, प्रहार करने, वध कर देने, शत्रु के अंगच्छेदन करने, शत्रु को चीर देने तथा युद्ध करने हेतु किसी स्थान पर शीघ्रतापूर्वक जाने एवं अस्त्र —शस्त्र ग्रहण करने के द्वारा उत्पन्न होता है।

रौद्र रस में :-

- उद्धत शत्रु :- आलम्बन विभाव  
शत्रु की चेष्टाएँ :- अनुभाव।  
आवेग गर्व आदि :- व्यभिचारी भाव होते हैं।

इनके संयोग से जब क्रोध नामक स्थायी भाव जाग्रत हो जाता है तो वह 'रौद्र' रस का रूप धारण कर लेता है।

**रौद्र रस का अभिनय :-** नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि का कथन है कि किसी नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करते समय नायक नायिका तथा अन्य पात्रों को अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्र आदि के प्रहार करने द्वारा, सिर, धड़ एवं भुजा आदि को काट देने के द्वारा तथा इसी प्रकार के क्रोध मूलक उग्र कर्मों को करने के द्वारा रौद्र रस का अभिनय करना चाहिये। इसी प्रकार लाल-लाल आँखों द्वारा भ्रुकुटी चढ़ाने द्वारा, दाँतों एवं होठों को दबाने द्वारा, गालों को फड़काने एवं हथेलियों को मसलने के द्वारा, रौद्र रस का अभिनय करना चाहिए। इसी तरह उग्र वाचिक एवं आंगिक चेष्टाओं द्वारा परस्पर अस्त्र - शस्त्र प्रहार करने के द्वारा तथा भयानक कर्मों को करने में सर्वत्र रौद्र रस दृष्टिगोचर होता है।

रंगमंच पर शत्रु के अंगो आदि को काटने का मात्र अभिनय किया जाता है, न कि क्रिया।

#### 5- वीर रस

- 1) **वीर रस लक्षण :-** वीर रस का स्थायी भाव उत्साह होता है। वीर रस उत्तम प्रकृति वाला एवं उत्साहपूर्ण होता है। उत्साह स्थायी भाव ही जाग्रत होकर वीर रस का रूप धारण कर लेता है।
- 2) **वीर कि उत्पत्ति :-** जब किसी नाटक में अथवा व्यवहारिक जीवन में नायक नायिका में किसी भी व्यक्ति में किसी कार्य के प्रति उत्साह तथा परिश्रम दृष्टिगोचर होता है साथ ही किसी भी विषय में विषाद, विस्मय तथा मोह दृष्टिगोचर न होता हो। इस प्रकार का विशेष अर्थ जहाँ दृष्टिगत हो वहाँ वीर रस उत्पन्न होता है। यह वीर रस मतिभ्रम न होने, अध्यवसाय, नीति बल, पराक्रम, शक्ति, प्रताप एवं भाव आदि द्वारा उत्पन्न होता है।

वीर रस में :-

- विजेतव्य शत्रु :- आलम्बन विभाव।  
शत्रु की चेष्टाएँ :- अनुभाव तथा  
गर्व, उत्साह आदि :- व्यभिचारी भाव होते हैं।

इनके संयोग से उत्साह नामक स्थायी भाव जाग्रत होकर वीर रस का रूप धारण कर लेता है।

- 3) **वीर रस का अभिनय :-** भरत मुनि का कथन है कि - नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करते समय नट- नटी को - स्थिरता, धीरता एवं कार्य के प्रति उत्साह शत्रु के प्रति पराक्रम अपने प्रभाव तथा शत्रु पर आक्षेपपूर्ण वाक्यों के द्वारा वीर रस

का अभिनय करना चाहिये। शत्रु पर वीरता का प्रदर्शन करते हुए वीर रस का अभिनय किया जाता है।

अभिनव गुप्त के अनुसार :- उत्साह उत्तम प्रकृति जन का स्वभाव होता है। अतः वीर रस का उत्तम प्रकृति वाला कहा गया है।

## 6- भयानक रस

भरतमुनि 'भयानक रस' की विवेचना प्रस्तुत कर रहे हैं—

- 1) **भयानक रस लक्षण** :- भयानक रस का स्थायी भाव 'भय' होता है। 'भय' स्थायी भाव ही जाग्रत होकर 'भयानक रस' में परिवर्तित हो जाता है।
- 2) **भयानक की उत्पत्ति** :- किसी नाटक में अथवा व्यावहारिक जीवन कोई व्यक्ति विकृत भयोत्पादक शब्द को सुनता है, किसी प्रेत को देख लेता है अथवा युद्ध जंगल अथवा किसी जनशून्य गृह में प्रवेश करता है। इसके साथ ही अपने पूज्य गुरुदेव के प्रति एवं राजा के प्रति कोई अपराध करता है, तो इससे कृतज्ञ भयानक रस की उत्पत्ति होती है। यह भयानक रस :- विकृत शब्द, पिशाच दर्शन सियार, उल्लू के त्रास से उत्पन्न उद्वेग, शून्य गृह, वन गमन तथा प्रिय व्यक्ति के बन्धन, वध आदि को देखने एवं सुनने से भी उत्पन्न होता है,

**भयानक रस में :-**

**भयोत्पादक व्यक्ति / वस्तु :-** आलम्बन विभाव।

**अंग कम्पन - रोमांच आदि / :-** अनुभाव

**स्तम्भ, दैन्य, आवेश, त्रास आदि / :-** व्यभिचारी भाव है।

इनके संयोग से 'भय' नामक स्थायी भाव जाग्रत होकर भयानक रस का रूप धारण कर लेता है।

- 3) **भयानक रस का अभिनय** :- भरत मुनि का मत है कि रंगमंच पर भयानक रस का निम्न रीति से अभिनय करना चाहिए। नायक- नायिका को अपने हाथ, पैर आदि अंगों, अपने मुख तथा नेत्रों को इधर-उधर बार- बार घुमा- घुमाकर, जंघाओं के स्तम्भन द्वारा चारों तरफ भयभीत होकर देखने के उद्वेग द्वारा मुख के झुक जाने तथा सूख जाने के द्वारा हृदय के बार-बार धड़कने के द्वारा एवं रोमांच के द्वारा भयानक रस का अभिनय करना चाहिए। इसके साथ ही अंगों में कम्पन, नेत्रों में चांचल्य पुलकित होने, मुख पीला पड़ जाने तथा आभा बदलने द्वारा भी भयानक रस का अभिनय करना चाहिए।

**विकृत भय :-** अभिनवगुप्त के अनुसार-अट्टहास आदि द्वारा विकृत भय उत्पन्न होता है।

नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि 'भयानक रस' के अभिनय करने की रीति का कथन कर रहे हैं :-

भरत का मत है कि :- भयप्रद वस्तु या व्यक्ति आदि को देखकर जो-शरीर में कम्पन, स्तम्भन हृदय में धड़कन एवं रोमांच उत्पन्न हो जाता है- यह स्वाभाविक भय होता है। इस प्रकार रात्रि आदि में किसी भूत, पिशाच अथवा राक्षस को देख लिया हो- उससे उत्पन्न भय का भी शारीरिक कम्पन, स्तम्भन, धड़कन, एवं

रोमांच आदि द्वारा अभिनय करना चाहिए। पुनश्च कम्पन, रोमांच आदि इन्हीं भावों के द्वारा रंगमंच पर नायक— नायिका को मिथ्या (कृतक) भय का भी अभिनय करना चाहिए परन्तु कृतक भय का अभिनय करते समय नट — नटी की चेष्टाएँ मृदु होनी चाहिए। रंगमंच पर उग्र चेष्टाओं का अभिनय करना चाहिये।

## 7— विभत्स रस

- 1) **विभत्स रस लक्षणः—** वीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा होता है। जुगुप्सा स्थायी भाव ही जाग्रत होकर—विभत्स—रस का रूप धारण कर लेता है।
- 2) **विभत्स की उत्पत्ति :—** किसी नाटक में अथवा वर्तमान जीवन में जब कोई व्यक्ति सडा मांस वमन विष्टा कीटादि युक्त वस्तु तथ दुर्गन्धित स्थान आदि अवांछित वस्तुओं स्थानों आदि को देखता है। गंध, रस ,स्पर्श शब्द आदि के दोषों से युक्त वस्तु व्यक्ति अथवा स्थान (जैसे दुर्गन्धयुक्त वस्तु ,व्यक्ति, स्थान) आदि को देखता है अथवा इसी प्रकार के अनेक निकृष्ट एवं उत्तेजक पदार्थों के सम्पर्क में आता है , तब वीभत्स रस समुत्पन्न होता है। इस प्रकार यह वीभत्स रस कष्टप्रद, अप्रिय एवं अनिष्ट पदार्थों के दर्शन, श्रवण, स्पर्शन एवं कथन द्वारा उत्पन्न होता है।

विभत्स रस में :—

दुर्गन्धित , वस्तु स्थान आदि :- आलम्बन विभाव।

निकृष्ट वस्तु व्यक्ति स्थान के प्रति घृणा :- अनुभाव।

उद्वेग, आवेग, शङ्का आदि :- व्यभिचारी भाव है।

इनके संयोग से जुगुप्सा नामक स्थायी भाव जाग्रत हो जाता है तो वह वीभत्स रस का रूप धारण कर लेता है।

- 3) **वीभत्स रस का अभिनय :—** भरत मुनि का कथन है कि रंगमंच पर वीभत्स रस का अभिनय निम्न रीति से करना चाहिए। नाटक में नट— नटी आदि पात्रों द्वारा अपने मुख एवं नेत्रों को बार—बार घुमाते हुए / नाक को हाथवस्त्र आदि द्वारा ढकते हुए / मुख को नीचे झुका देने के द्वारा तथा लड़खड़ाते हुए कदमों द्वारा चलते हुए / वीभत्स रस का अभिनय करना चाहिए। इसी प्रकार शरीर के समस्त अंगों को संकुचित करना , मुख सिकोडना , उबकाई लेना , थूकना तथा शरीर को ताडित करना आदि कार्यो द्वारा भी **वीभत्स रस** का अभिनय करना चाहिये।

## 8— अद्भुत रस

- 1) **अद्भुत रस लक्षण :—** अद्भुत रस का स्थायी भाव **विस्मय** होता है। 'विस्मय' स्थायी भाव ही जाग्रत होकर '**अद्भुत रस**' में परिवर्तित हो जाता है।
- 2) **अद्भुत रस की उत्पत्ति :—** किसी नाटक में अथवा व्यवहारिक वर्तमान जीवन में जब कोई व्यक्ति किसी अतिशयत्व से युक्त वाक्य को सुनता है अथवा किसी अद्भुत भवन, महल, नगर, निर्माण रूप शिल्प को देखता है अथवा इसी प्रकार का कोई अन्य चमत्कारिक कर्म—जैसे जादू से महल बना देना। आम्रवृक्ष उत्पन्न कर आम लगा देना। बालक को बालिका बना देना अथवा बालिका को बालक बना देना आदि विस्मयोत्पादक दृश्य देखता है— तब '**अद्भुत रस**' उत्पन्न होता

है। दिव्यजन दर्शन, इच्छित मनोकामना पूर्ति, उपवन, देव मन्दिर गमन, सभा विमान, माया इन्द्रजाल आदि को देखकर जब दृष्टा चमत्कृत हो जाता है, तब 'अद्भुत रस' उत्पन्न होता है।

**अद्भुत रस में :-**

**अलौकिक पदार्थ दर्शन :- आलम्बन विभाव ।**

**रोमांच, हर्ष आदि :- अनुभाव**

**स्तम्भ ,स्वेद आदि :- व्यभिचारी भाव होते हैं ।**

इनके संयोग संयोग से जब 'विस्मय – नामक स्थायी भाव जाग्रत हो जाता है तो वह 'अद्भुत रस' का रूप धारण कर लेता है।

**3) अद्भुत रस का अभिनय :-** भरत मुनि का कथन है कि रंगमंच पर 'अद्भुत रस' का अभिनय निम्न रीति से करना चाहिये । नाटक के नट – नटी आदि पात्रों को किसी चमत्कारपूर्ण वस्तु दृश्य आदि को देखकर स्वयं ही स्वयं के शरीर का स्पर्श करते हुए, अथवा निकटस्थ व्यक्ति के शरीर का स्पर्श करते हुए, अथवा निकटस्थ व्यक्ति के शरीर का स्पर्श करते हुए, अकस्मात् अपने स्थान से ऊपर कूदते हुये, चिल्लाते हुए 'हा-हा' / 'ही-ही' / 'हे-हे' / 'हो-हो' आदि शब्द करते हुए/हे ऐन्द्रजालिक! तुम धन्य हो/धन्य हो/आदि साधुवाद = धन्यवाद देते हुए तथा शारीरिक कम्पन, गदगद वाणी एवं स्वादादि आ जाने के द्वारा 'अद्भुत रस' का अभिनय करना चाहिये। इस प्रकार आँखे फाड़ फाड़कर अनिमेष देखने, अश्रु, स्वेद, हर्ष, साधुवाद, दान, हा- हा ध्वनि आदि के द्वारा तथा बाहु, मुख, वस्त्र अथवा अंगुली घुमाने आदि के द्वारा अद्भुत रस का सम्यक् अभिनय करना चाहिये।

**विशेष :-** सामान्यतः हर्ष एवं विषाद में हाहाकार किया जाता है परन्तु अद्भुत वस्तु को देखकर दर्शक के चमत्कृत हो जाने पर भी हाहाकार किया जाता है।

नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि शृंगार ,हास्य और रौद्र इन तीन रसों के तीन –तीन भेदों का प्रतिपादन कर रहे हैं।

**शृंगार भेद :-** कामोत्तेजना से शृंगार रस की उत्पत्ति होती है रति नामक स्थायी भाव ही जाग्रत हो कर शृंगार रस का रूप धारण कर लेता है। शृंगार के भेद हैं।

**वाणी :-** नायक – नायिका परस्पर मिलकर रत्युत्पादक मधुर भाषण (मीठी –मीठी बातें) करते हैं तो इस वाणी से उत्पन्न शृंगार रस कहलाता है। **नेपथ्य :-** नायक – नायिका परस्पर दर्शन, स्पर्शन, मर्दन, चुम्बन, रति क्रिया आदि करते हैं तो यह/क्रियात्मक शृंगार रस कहलाता है।

**हास्य के त्रिविध भेद :-** किसी के विकृत वेश, विकृत भाषा आदि को देखकर हास्य रस उत्पन्न होता है। 'हास' नामक स्थायी भाव ही जाग्रत होकर 'हास्य रस' का रूप धारण कर लेता है।

इसके तीन भेद निम्न हैं:-

1. अंग :- विकृत टेढ़ी- मेढ़ी चाल आदि चलकर जो हास्य उत्पन्न किया जाता है , वह अंगमूलक हास्य' कहलाता है।

2. नेपथ्य :- विदूषक आदि पात्र विकृत वस्त्र, अनुचित स्थान पर अलंकार (जैसे करधनी को गले में पहनना) आदि धारण कर जो हास्य उत्पन्न करते हैं वह 'नेपथ्य मूलक हास्य' कहलाता है।
3. वाक्य :- जब नायक- नायिका अथवा अन्य पात्र परस्पर विकृत भाषा, चारु वाक् आदि बोलकर जो हास्य रस उत्पन्न करते हैं वह वाक्यमूलक है।

**रौद्र रस के त्रिविध भेद :-** रौद्र रस का स्थायी भाव 'क्रोध' होता है। क्रोध स्थायी भाव ही जाग्रत होकर रौद्र रस का रूप धारण कर लेता है।

रौद्र रस के भी तीन भेद होते हैं—

1. अंग :- नाटक के पात्रों का अपनी शारीरिक चेष्टाओं द्वारा जो शत्रुओं में क्रोध उत्पन्न किया जाता है वह 'अंगमूलक रौद्र रस' कहलाता है। इसमें शत्रुओं पर अस्त्र शस्त्र का प्रहार किया जाता है।
2. नेपथ्य :- अस्त्र शस्त्र एवं युद्ध के वस्त्र आदि धारण कर जो शत्रुओं में क्रोध उत्पन्न किया जाता है वह 'नेपथ्यमूलक रौद्र रस' कहलाता है।
3. वाक्य :- इसी प्रकार दो अथवा अनेक शत्रुओं का परस्पर कठोर वचन कहने, हृदय विदारक शब्दों को बोलने—आदि द्वारा जो क्रोध उत्पन्न किया जाता है वह 'वाक्यमूलक रौद्र रस' कहलाता है।

**करुण रस त्रिविध भेद :-** शोक नामक स्थायी भाव जाग्रत होकर 'करुण रस' का रूप धारण कर लेता है। प्रिय वियोग — अप्रिय की प्राप्ति से करुण रस उत्पन्न होता है। इसके तीन भेद निम्नानुसार दृष्टव्य हैं।

1. धर्मोपघातज = धर्म की हानि होने पर जो करुण रस उत्पन्न होता है वह 'धर्मोपघातज' करुण रस कहलाता है। किसी कारण वश धर्म = अग्नि होत्र, दान, पुण्य आदि का सम्पादन न कर पाने से जो 'शोक' उत्पन्न होता है वह ही 'धर्मोपघातज' कहलाता है। तत्पश्चात् धर्म रक्षण का भाव उत्पन्न होता है।
2. अर्थापचयोद्भव :- किसी कारण वश धन की हानि हो जाने पर जो शोक उत्पन्न होता है — उसे अर्थापचयोद्भव करुण रस कहते हैं। इसमें धन हानि के पश्चात् पुनः धन अर्जन करने का भाव उत्पन्न होता है।
3. शोक कृत :- प्रिय व्यक्ति का वियोग, अप्रिय, व्यक्ति की प्राप्ति तथा प्रिय है वह शोककृत करुण रस कहलाता है। शोक प्राप्ति के पश्चात् शोक पर विजय प्राप्त कर समत्व योगी बनने का भाव उत्पन्न होता है।

**वीर रस के 3 भेद:-**

भरत का कथन है की प्रजापति ब्रह्मा ने वीर रस के तीन ही भेद प्रतिपादित किये हैं। वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है। उत्साह नामक स्थायी भाव ही जा होकर वीर रस का रूप धारण कर लेता है।

वीर रस के तीन भेद होते हैं। यथा :- दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर।

- 1) दानवीर :- यदि कोई व्यक्ति धन, सम्पत्ति भूमि, विद्या आदि का दान देने में सभी का अतिक्रमण कर लेता है तो वह दानवीर कहलाता है। जैसे भगवान

परशुराम ने त्यागः सप्त समुद्र.... सप्त समुद्रों से आवेष्टित पृथिवी का अकपट रूप से दान दे दिया। अतः परशुराम दानवीर सत्त्व कहलाते हैं।

2) **धर्मवीर** :- यदि कोई व्यक्ति यज्ञ, दान, पुण्य, परोपकार, धर्म आदि शुभ कर्म करने में सभी को अतिक्रान्त कर देता है तो वह 'धर्मवीर' कहलाता है जैसे 'धर्मराज युधिष्ठिर' ने कहा :- "यह मेरा राज्य धन, शरीर, भार्या, भाई, पुत्र तथा मेरे पास स्थित संसार की सभी वस्तुएँ धर्म के लिये सदा उपस्थित हैं।" यहाँ युधिष्ठिर धर्मवीर सत्त्व है।

3) **युद्धवीर** :- यदि कोई योद्धा युद्ध हेतु शत्रु को ललकारता है तो वहाँ "युद्धवीर रस" होता है। जैसे श्री राम की रावण के प्रति उक्ति :-

**भो लंकेश्वर! दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते। अर्थात्**

हे रावण! तुम सीता को लौटा दो। अपनी बुद्धि विभ्रम छोड़ो। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। अन्यथा खर, दूषण तथा त्रिशिरा के रक्त से मलिन मेरा यह धनुष तुम्हें नहीं छोड़ेगा। यहाँ राम में 'युद्ध वीर रस' दृष्टिगोचर हो रहा है।

विशेष :-आचार्य विश्वनाथ कविराज ने :-'दयावीर' नामक वीर रस का चतुर्थ भेद भी स्वीकृत किया है। जैसे- जीमूतवाहन द्वारा नाग को बचाने हेतु अपने शरीर का दान करना।

भरत मुनि भयानक रस के तीन भेदों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

**भयानक रस के भेद** :- भयानक रस का स्थायी भाव भय होता है। भय स्थायी भाव जाग्रत होकर भयानक रस के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

इसके 3 भेद निम्नानुसार दृष्टव्य हैं -

1. **कृत्रिम भयानक** :- जब किसी नाटक में नायक -नायिका अथवा अन्य पात्र किसी कृत्रिम (मिथ्या - असत्), भयप्रद वस्तु, व्यक्ति, स्थान आदि को देखकर भयभीत हो जाने का अभिनय करते हैं, वहाँ कृत्रिम भयानक रस होता है।
2. **अपराधज भयानक** :- जब कोई व्यक्ति अपने पूज्य माताश्री, पिताश्री, अथवा गुरुदेव श्री आदि के प्रति अपराध करता है उनका तिरस्कार करता है उन्हें आदर नहीं देता है - तब वे क्रुद्ध हो जाते हैं। पूज्य जन के क्रोधित होने पर जो भयभीत हो जाने का अभिनय किया जाता है वह 'अपराधज भयानक' रस है।
3. **ज्ञानोत्पन्न भयानक** :- जब कोई व्यक्ति तत्त्व चिन्तन करता है। योगाभ्यास करता है। विवेक ज्ञान प्राप्त करता है। सत् शास्त्रों का चिन्तन, मनन एवं निदिध्यासन करता है। फलतः वह ज्ञानी बन जाता है। विवेक ज्ञान के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् जब वह इस जगत् के आधिदैविक, आधिभौतिक, तथा आध्यात्मिक आदि त्रिविध दुःखों से भयभीत हो जाता है तो यह 'ज्ञानोत्पन्न भयानक रस' कहलाता है।

भरत मुनि 'वीभत्स रस' के तीन भेदों का प्रतिपादन कर रहे हैं। वीभत्स त्रिविध भेद:- वीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा है। जुगुप्सा नामक स्थायी भाव जाग्रत होकर 'वीभत्स रस' का रूप धारण कर लेता है।

इसके 3 भेद निम्नानुसार अवलोकनीय है :- क्षोभज ,शुद्ध और उद्वेगी ।

1. क्षोभज वीभत्स :- किसी स्थान पर रुधिर, दुर्गन्धित माँस, चर्बी आदि को देखकर हमारे हृदय में 'क्षोभ' उत्पन्न होता है। इस प्रकार मन में क्षोभ उत्पन्न करने वाला रस — 'क्षोभज वीभत्स' रस कहलाता है।
2. शुद्ध वीभत्स:- जो वीभत्स रस राग द्वेष को नष्ट करने वाला, तथा मोक्ष प्राप्ति का साधक हो वह 'शुद्ध वीभत्स' रस है।
3. उद्वेगी वीभत्स :- किसी स्थान पर विषा, कृमि, सड़ा माँस, वमन आदि को देखकर दृष्टा व्यक्ति के हृदय में उद्वेग उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार 'उद्वेग' उत्पन्न करने वाला रस उद्वेगी वीभत्स रस कहलाता है।

सम्प्रति भरत मुनि 'अद्भुत रस' के भेदों का प्रतिपादन कर रहे हैं। अद्भुत द्विधा भेद :- अद्भुत रस का स्थायी भाव 'विस्मय' है। 'विस्मय' स्थायी भाव जाग्रत होकर 'अद्भुत रस' का रूप धारण कर लेता है।

अद्भुत रस के 2 भेद निम्नानुसार दृष्टव्य है :- दिव्य और आनन्दज अद्भुत रस।

1. दिव्य अद्भुत रस :- जब किसी दिव्य प्रदार्थ का दर्शन होता है तब वहाँ दिव्य अद्भुत रस होता है जब कभी हम दिव्य देवताओं, देवियों, अप्सराओं, दिव्य सभा, दिव्य विमान, दिव्य माया तथा दिव्य इन्द्रजाल (जादू) आदि का दर्शन करते हैं। तब हम विस्मित हो जाते हैं इस प्रकार आश्चर्य, विस्मय आदि उत्पन्न करने वाला रस दिव्य अद्भुत रस कहलाता है।
2. आनन्दज अद्भुत रस :- जब हमारा कोई कार्य सिद्ध हो जाता है। तब हमें प्रसन्नता कि प्राप्ति होती है वहाँ आनन्दज अद्भुत रस होता है कार्य में सफलता धनादि कि प्राप्ति एश्वर्य, भोग, सुख, आनन्द आदि कि जब हमें प्राप्ति होती है तब हमारे मन में अपूर्व हर्ष उत्पन्न होता है, इस हर्ष से ही आनन्दज अद्भुत रस उत्पन्न होता है।

### बोध/अभ्यास प्रश्न

#### I. बोध प्रश्न

क. निम्नलिखित प्रश्नों के ठीक उत्तरों पर सही (✓) का चिन्ह लगाइयें

1. अद्भुत रस का स्थायी भाव है। ( विस्मय/उत्साह)
2. वीभत्स रस का स्थायी भाव क्या है ( जुगुप्सा / विस्मय )
3. हास्य रस' के कितने भेद होते हैं ( 6/5 )
4. रौद्ररस का स्थायी भाव क्या होता है ( क्रोध / विस्मय )
5. भयानक रस का स्थायी भाव क्या होता है ( भय / उत्साह )

#### II. अभ्यास प्रश्न

1. करुण रस का परिचय लिखिये।
2. रौद्र रस का परिचय लिखिये।
2. वीर रस का परिचय लिखिये।

### 9.3 सारांश

इस इकाई में आपने अध्ययन किया की संस्कृत काव्यशास्त्र में भरतमुनि के अनुसार रसों की संख्या के विषय में भेद के विषय में क्या कहा है। शृंगार रस की उत्पत्ति होती है रति नामक स्थायी भाव ही जाग्रत होकर शृंगार रस का रूप धारण कर लेता है। हास्य के विकृत वेश, विकृत भाषा आदि को देखकर हास्य रस उत्पन्न होता है। 'हास' नामक स्थायी भाव ही जाग्रत होकर 'हास्य रस' का रूप धारण कर लेता है। रौद्र रस का स्थायी भाव 'क्रोध' होता है। क्रोध स्थायी भाव ही जाग्रत होकर रौद्र रस का रूप धारण कर लेता है। रौद्र रस के भी तीन भेद होते हैं। शोक नामक स्थायी भाव जाग्रत होकर 'करुण रस' का रूप धारण कर लेता है।

'शब्द' ध्वनियाँ अथवा वर्णों का समूह है जिससे कोई अर्थ निकलता है। निरर्थक शब्दों से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। ऐसे में शब्द कभी – कभी सार्थक शब्दों के साथ जुड़कर भले ही अपनी अर्थध्वनि प्रकट कर दे किन्तु निरपेक्ष रूप में उनकी कोई उपयोगिता नहीं होती। वस्तुतः शब्द में अक्षर होते हैं जो अपने उच्चारण, लेखन, श्रवण तथा पठन-पाठन से हमें किसी व्यक्ति अथवा वस्तु के विषय में जानकारी कराते हैं। सार्थक शब्दों से वाक्य बनते हैं जिनसे कुछ न कुछ अर्थ अवश्य निकलता है। वक्ता और श्रोता अथवा पुस्तक और पाठक उसके माध्यम से बनते हैं। इन सबका सम्बन्ध अर्थ से होता है अतः भाषा अभिव्यक्ति का सबसे अधिक सशक्त साधन माना गया है। इन सबका वर्णन इस इकाई में किया गया है।

### 9.4 शब्दावली

| शब्द        | अर्थ                               |
|-------------|------------------------------------|
| सशक्त       | — मजबूत                            |
| वाणी        | — बोली                             |
| निरर्थक     | — व्यर्थ                           |
| क्रुद्ध     | — क्रोध / गुस्सा                   |
| वमन         | — उल्टी                            |
| चारु        | — सुन्दर                           |
| विवेक ज्ञान | — सही/ग़लत की पहचान करने की क्षमता |

### 9.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, उमाशंकर शर्मा ऋषि, चौखम्बा विश्वभारती प्रकाशन, वाराणसी
2. काव्यप्रकाश, आचार्यविश्वेश्वर, चौखम्बा विश्वभारती प्रकाशन, वाराणसी
3. वैदिक साहित्य, कपिलदेव द्विवेदी, चौखम्बा विश्वभारती प्रकाशन, वाराणसी

---

## 9.6 बोध/अभ्यास प्रश्न के उत्तर

---

### I. बोध प्रश्नों के उत्तर –

1. विस्मय
2. जुगुप्सा
3. हास्य रस के 6 भेद होते हैं।
4. रौद्ररस का स्थायी भाव क्रोध होता है।
5. भयानक रस का स्थायी भाव भय होता है।

### II. अभ्यास प्रश्न के उत्तर छात्र स्वयं लिखेंगे।



ignou  
THE PEOPLE'S  
UNIVERSITY

---

## इकाई 10 रस विषयक सिद्धान्त

---

### इकाई की रूपरेखा

- 10.0 उद्देश्य
- 10.1 प्रस्तावना
- 10.2 रस विषयक सिद्धान्त
- 10.3 सारांश
- 10.4 शब्दावली
- 10.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 10.6 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

---

### 10.0 उद्देश्य

---

इस इकाई में रस विषयक सिद्धान्त के अध्ययन से आप :

- भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद के विषय में परिचित होंगे।
- भट्टलोल्लट के रस सिद्धान्त के विषय में परिचित होंगे।
- शंकुक का अनुमितिवाद के रस सिद्धान्त के विषय में परिचित होंगे।
- रस की अलौकिकता के सिद्धान्त के विषय में परिचित होंगे।

---

### 10.1 प्रस्तावना

---

रस विषयक सिद्धान्त के विषय में सर्वप्रथम उल्लेख भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में किया गया है। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस भरतमुनि के नाट्य सूत्र में जो निष्पत्ति शब्द आया है उसके भी चार अर्थ होते हैं। भट्टलोल्लट के मत में निष्पत्ति का अर्थ—उत्पत्ति है। शंकुक के मत में निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति है। भट्टनायक के मत में निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति है और अभिनवगुप्त के मत में निष्पत्ति शब्द से अभिव्यक्ति का ग्रहण होता है। भरत सूत्र के व्याख्याकारों में भट्टलोल्लट उत्पत्तिवाद के मानने वाले हैं। उनके मत में विभाव, अनुभाव आदि के संयोग से अनुकार्य राम आदि में रस की उत्पत्ति होती है। उनमें भी विभाव सीता आदि मुख्य रूप से रस के उत्पादक होते हैं। स्थायीभाव के साथ विभावों का संयोग अर्थात् उत्पाद्य—उत्पादकभाव संबंध अनुभावों के साथ गम्य—गमक भाव संबंध व्यभिचारी भाव के साथ पोष्य—पोषक भाव सम्बन्ध संयोग से अभिप्रेत है। ऐसा मानकर ही काव्य प्रकाश की मूल व्याख्या में क्रमशः जनितः प्रतीति योग्यः कृतः तथा उपचित इन पदों का प्रयोग किया गया है। मीमांसा से यहां उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदांत का ग्रहण करना चाहिए। वेदांत में जगत् की आध्यासिक प्रतीति मानी गयी है। इसी सादृश्य के कारण इस सिद्धान्त को मीमांसा अर्थात् उत्तर मीमांसा या वेदांत का अनुगामी सिद्धान्त कहा गया है।

## 10.2 रस विषयक सिद्धांत

रस विषयक सिद्धांत के विषय में सर्वप्रथम उल्लेख भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में किया गया है। यही सभी रस सिद्धांत की आधार है। भरतमुनि के रससूत्र की व्याख्या में ही उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनी बुद्धि का प्रयोग किया है और उनके परिणाम स्वरूप 1. उत्पत्तिवाद 2. अनुमितिवाद 3. भुक्तिवाद और 4. अभिव्यक्तिवाद। इन चार सिद्धांतों का विकास हुआ है। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस भरतमुनि के नाट्य सूत्र में जो निष्पत्ति शब्द आया है उसके भी चार अर्थ होते हैं। भट्टलोल्लट के मत में निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति है, शंकुक के मत में निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति है, भट्टनायक के मत में निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति है और अभिनवगुप्त के मत में निष्पत्ति शब्द से अभिव्यक्ति का ग्रहण होता है।

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रस निष्पत्ति: — विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के सहयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यह भरतमुनि का सूत्र है इस सूत्र की व्याख्या उनके टीकाकारों ने अनेक प्रकार से की है। जिनमें से 1. भट्टलोल्लट 2. शंकुक 3. भट्ट नायक तथा 4. अभिनव गुप्त मुख्य व्याख्याकार हैं। इन चार आचार्यों द्वारा की गई व्याख्या यहां काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी उद्धृत किया है। इन चारों आचार्यों द्वारा की जाने वाली व्याख्या अभिनवगुप्त रचित भरतनाट्यशास्त्र की अभिनव भारती नामक टीका में से ली गई है। अभिनव भारती में यह सब प्रकरण बहुत लंबा तथा कठिन है। मम्मट ने उसका सारांश संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है।

भरतमुनि ने कहा भी है विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

### भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

भरत सूत्र के व्याख्याकारों में भट्टलोल्लट उत्पत्तिवाद के मानने वाले हैं। उनके मत में विभाव, अनुभाव आदि के संयोग से अनुकार्य राम आदि में रस की उत्पत्ति होती है। उनमें भी विभाव सीता आदि मुख्य रूप से रस के उत्पादक होते हैं। अनुभाव उस उत्पन्न हुए रस को बोधित करने वाले होते हैं और व्यभिचारिभाव उस उत्पन्न रस के परिपोषक होते हैं। अतः स्थायीभाव के साथ विभावों का उत्पाद्य— उत्पादकभाव, अनुभावों का गम्य— गमकभाव और व्यभिचारीभावों का पोष्य — पोषक भाव संबंध होता है इसलिए भरत सूत्र में जो संयोग शब्द आया है। भट्टलोल्लट के मत में भी उसके तीन अर्थ हैं। विभावों के साथ संयोग अर्थात् उत्पाद्य— उत्पादक भाव सम्बन्ध अनुभावों के साथ गम्य — गमकभाव सम्बन्ध तथा व्यभिचारि भावों के साथ पोष्य — पोषक भाव रूप सम्बन्ध संयोग शब्द का अर्थ होता है। इसी शब्द को आगे कहते हैं विभाव अर्थात् रस के आलम्बन तथा उद्दीपन के कारणभूत ललना (आलम्बन विभाव) और उद्यान आदि उद्दीपन विभावों से रति आदि स्थायीभाव उत्पन्न हुआ है रति आदि के उत्पत्ति के कार्यभूत कटाक्ष भ्रूविकार आदि अनुभावों से प्रतीति के योग्य किया गया और सहकारी रूप निर्वेद आदि व्यभिचारि भावों को पुष्ट किया गया मुख्य रूप से अनुकार्य रूप राम आदि में और उनके स्वरूप का अनुकरण करने में नट में प्रतीयमान अर्थात् आरोप्यमाण रत्यादि स्थायीभाव ही रस कहलाता है। भट्टलोल्लट का सिद्धान्त है।

इस व्याख्या को अनेक टीकाकारों ने मीमांसा सिद्धांत के अनुसार की गयी व्याख्या बतलाया है। मीमांसा से यहां उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदांत का ग्रहण करना चाहिए। वेदांत दर्शन में जगत् की आध्यासिक प्रतीति मानी गयी है जैसे रज्जु में सर्प की आध्यासिक या आरोपित प्रतीति के समय सर्प के विद्यमान ना होने पर भी सर्प की

प्रतीति और उससे भय आदि कार्यो की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार अभिनय आदि के समय रामादिगत सीताविषयिणि में अनुरागादिरूपा रति के विद्यमान न होने पर भी नट में विद्यमान रूप से उसकी प्रतीति और उसके द्वारा सहृदयों में चमत्कारानुभूति आदि कार्यो की उत्पत्ति होती है। इसी सादृश्य के कारण इस सिद्धांत को मीमांसा अर्थात् उत्तर मीमांसा या वेदांत का अनुगामी सिद्धांत कहा गया है।

### भट्टलोल्लट का रस सिद्धान्त

भट्टलोल्लट की इस व्याख्या में सबसे बड़ी कमी यह प्रतीत होती है कि इसमें मुख्य रूप से अनुकार्य तथा गौणरूप से नट में तो रस की उत्पत्ति अभिव्यक्ति और पुष्टि आदि मानी गई है परंतु सामाजिकों को रसानुभूति क्यों होती है इस समस्या पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। दूसरी बात यह है कि अनुकार्य सीता, राम आदि तो इस जगत् में नहीं है। अतः इस समय किये जाने वाले अभिनय से उनमें रस की उत्पत्ति नहीं बन सकती है इसलिए उनके अनुकर्ता नट में भी रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इस व्याख्या के मुख्य दो दोष हैं इसलिए यह व्याख्या अन्य आचार्यों को रुचिकर प्रतीत नहीं हुई।

### शंकुक का अनुमितिवाद का रस सिद्धान्त

न्याय सिद्धांत के अनुयायी भरत सूत्र के दूसरे टीकाकार शंकुक ने इस सूत्र की दूसरे प्रकार की व्याख्या उपस्थित की है इसमें उन्होंने सामाजिक के साथ रस का संबंध दिखलाने का प्रयत्न किया है। इस व्याख्या के अनुसार नट कृत्रिम रूप से नट अनुभाव आदि का प्रकाशन करता है। परंतु उनके सौंदर्य के बल से उनमें वास्तविकता की प्रतीति होती है। उन कृत्रिम अनुभाव आदि को देखकर सामाजिक नट में वस्तुतः विद्यमान न होने पर उनमें रस का अनुमान कर लेता है और अपनी वासना के वशीभूत होकर उस अनुमीयमान रस का आस्वादन करता है। शंकुक की इस व्याख्या को काव्यप्रकाशकार मम्मट ने निम्नलिखित प्रकार से व्याख्या है—

1. यह राम ही है यह ही राम है इस प्रकार से सम्यक् ज्ञान 2. यह राम नहीं है इस प्रकार उत्तर काल में बाधित होने वाली यह राम है। इस प्रकार से मिथ्या ज्ञान यहां राम है नहीं इस प्रकार संशय रूप ज्ञान और 4. यह राम के समान है इस प्रकार की सादृश्य ज्ञान 1. सम्यक् ज्ञान 2. मिथ्या ज्ञान 3. संशय ज्ञान 4. सादृश्य ज्ञानियों से भिन्न प्रकार की चित्रतुरंगन्याय से होने वाली पांचवे प्रकार की ज्ञान से ग्राह्य नट में मेरे अंगों में सुधा रस के समान आनन्ददायिनी आँखों के लिए कर्पूर की शलाका के समान शीतलतादायक और मन के लिए शरीर धारिणी मनोरथ श्री के समान यह प्राणेश्वरी मुझे अब दिखलायी दे रही है। काव्य प्रकाश कारिका 4 यह सब प्रकार अनेक काव्यों के अनुशीलन से तथा शिक्षा के अभ्यास से सिद्ध किए हुए अपने अनुभव इत्यादि कार्य से नट के ही द्वारा प्रकाशित किए जाने वाले कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम न समझे जाने वाले विभाव आदि शब्दों से व्यवहृत होने वाले कारण कार्य और सहकारियों के साथ संयोग अर्थात् गम्य — गमक भाव रूप संबंध से अनुमीयमान् होने पर भी वस्तु के सौंदर्य के कारण तथा आस्वाद का विषय होने के अन्य अनुमीयमान् अर्थों से विलक्षण स्थायीरूप से संभाव्यमान रति आदि भाव वहां अर्थात् नट में वास्तव रूप में रहते हुए भी सामाजिक के संस्कारों से आस्वाद किया जाता हुआ रस कहलाता है। यहां श्री शंकुक का मत है। इस मत में भरत सूत्र के निष्पत्ति शब्द का अर्थ अनुमिति और संयोग शब्द का अर्थ गम्य — गमकभाव संबंध है

श्री शंकुक का मत का विश्लेषण किया जाए तो उसमें निम्नलिखित बातें विशेष ध्यान देने योग्य पाई जाती हैं।

1. शंकुक ने रस को अनुयेय माना है अनुमान की सामग्री में नट। चित्रतुरगन्याय से राम बुद्धि का प्रतिपादन किया है जैसे घोड़े के चित्र को देखकर यह घोड़ा है इस प्रकार का व्यवहार होता है परंतु इस प्रतीति को 1. न सत्य कहा जा सकता है 2. न मिथ्या 3 न संशयरूप कहा जा सकता है 4 और न सादृश्य रूप प्रतीति ही माना जा सकता है। चित्रस्थ तुरग में होने वाली बुद्धि इन चारों प्रकार के बुद्धियों से भिन्न होती है। इसी प्रकार नट में जो राम बुद्धि होती है वह 1. सम्यक 2. मिथ्या 3. संशय तथा 4. सादृश्य इन चारों प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण होती है।
2. रस की अनुमिति में राम सीता विभावों की प्रतीति तो चित्रतुरगन्याय से होती ही है उसके अतिरिक्त जिन अनुभाव तथा व्यभिचारीभावरूप लिंगों में उनमें इयं सीतारामविषयकरतिमति तस्मिन् विलक्षणस्मित कटाक्षादिमत्त्वात् इस प्रकार का अनुमान होता है वे लिंग भी यथार्थ नहीं हैं। यथार्थ स्मित, कटाक्षादि अनुभाव तो यथार्थ सीता राम आदि में ही रहे होंगे पर यहां चित्रतुरगन्याय से उपस्थित सीता राम रूप नट में यथार्थ स्मित कटाक्षादि नहीं हैं, नट अपने शिक्षा और अभ्यास से कृत्रिम स्मित कटाक्ष आदि का प्रदर्शन करता है। इस प्रकार कृत्रिम आलंबन रूप सीता राम आदि में नटों द्वारा कृत्रिमरूप से प्रकाशित स्मित कटाक्षादि इयं शंकु करके अनुमति बात को न्याय मतानुसार सिद्धांत माना गया है। इसका कारण उसका अनुमति प्रधान होना ही है सीता रामविषयक रतिमति अयं रामः सीता विषयक रतिमान तत्र विलक्षणस्मित कटाक्षादिमत्त्वात् इस प्रकार अनुमानिक रस की प्रतीति होती है।
3. इसलिए भरत के रस सूत्र में प्रयुक्त संयोग शब्द का अर्थ गम्यगमकभावसंबंधत्वात् होता है।
4. इसलिए अनुमानिक रस की प्रतीति का आधार भी सामाजिक नहीं होता है। कृत्रिम राम और सीता में रहने वाली रति या रस का सामाजिक को केवल अनुमान होता है।
5. सामान्यतः अनुमान आदि प्रमाणों से होने वाले ज्ञान परोक्ष माना जाता है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से ही अपरोक्ष की प्रतीति होती है।
6. इस रसानुमिति में विशेषता यह है कि वह अनुमित होने पर भी अन्य अनुमितियों से भिन्न और अपरोक्ष रूप होती है इसलिए उसे अनुमित रस का सामाजिक को आस्वाद होता है।
7. सामाजिक के रसास्वाद का कारण उसकी वासना और रस प्रतीति में विलक्षण अपरोक्षता कि कल्पना है। वस्तुतः अनुमित रस न सामाजिक में रहता है और न कृत्रिम राम आदि में रहता है परंतु वासना के बल से सामाजिक में न रहने वाले और नट में भी वस्तुतः अविद्यमान किंतु अनुमीयमान रस का सामाजिक को आस्वाद होता है।

शंकुक के अनुमितिवाद को न्यायमतानुसारी सिद्धांत माना गया है इसका कारण उसका अनुमति प्रधान होना ही है। न्यायशास्त्र अनुमिति प्रधान शास्त्र है। विशेषरूप से नव्य

न्याय के आचार्यों ने तो अपनी सारी शक्ति अनुमान के परिष्कार में ही लगा दी थी। न्याय के इस अनुमितिप्रधान प्रक्रिया के आधार पर ही शंकुक ने अपने अनुमितिवाद की स्थापना की है इसीलिए उसको न्यायमतानुसारी सिद्धान्त कहा जाता है।

### रस की अलौकिकता का पहला सिद्धान्त

अभिनव गुप्त ने रस को अलौकिक माना लौकिक अन्य वस्तुओं से भिन्न प्रकार का है। लोक में पाई जाने वाली अनित्य वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं एक कार्य रूप और दूसरी ज्ञाप्य रूप घट पट आदि कार्य पदार्थ है। ये किसी कारण से उत्पन्न होते हैं इसलिए कार्य कहलाते हैं और इनका जनक कारण या कारक कहलाता है। दूसरे प्रकार से यह पदार्थ ज्ञान के विषय या ज्ञाप्य होते हैं जैसे दीपक के प्रकाश से घट का ज्ञान होता है इसलिए दीपक के द्वारा घट ज्ञाप्य है। पूर्व में सिद्ध पदार्थ का जब किसी साधन के द्वारा ज्ञान होता है वह पदार्थ ज्ञाप्य कहलाता है और जो पदार्थ पूर्व सिद्ध नहीं है, कारण के व्यापार के बाद उसके उत्पत्ति होती है वह कार्य कहलाता है। संसार के सारे अनित्य पदार्थ कार्य और ज्ञाप्य दो वर्गों में ही अवश्य अंतर्भूत हो जाते हैं परंतु रस को न कार्य कहा जा सकता है और न ज्ञाप्य। कार्य तो इसलिए नहीं हो सकता है कि कार्य पदार्थ अपने निमित्त का नाश हो जाने पर भी बने रहते हैं जैसे कुंभकार का बनाया हुआ घड़ा कुंभकार के मर जाने के बाद भी बना रह सकता है। यदि रस को कार्य माना जाए तो उसके निमित्त कारण विभावादि ही होंगे। इसलिए विभावादि का नाश हो जाने के बाद भी उसकी प्रतीति होनी चाहिए। परंतु विभावादि के नाश के बाद भी रस की प्रतीति नहीं होती है। इसी अभिप्राय से ग्रंथकार ने विभावादिजीवितावधि: इस विशेषण का प्रयोग किया है। इसीलिए रस को कार्य नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार रस ज्ञाप्य भी नहीं है क्योंकि ज्ञाप्य पदार्थ के ज्ञान होने के पूर्व ही विद्यमान होता है और बाद में भी विद्यमान रहता है। परंतु रस की सत्ता अनुभव से पूर्व काल में नहीं रहती है और न अनुभव के बाद। जब तक रस की अनुभूति होती है तब तक ही उसकी सत्ता रहती है इसलिए वह कार्य तथा ज्ञाप्य दोनों प्रकार के लौकिक पदार्थों से भिन्न है। इसीलिए रस को अलौकिक सिद्धान्त कहा जाता है।

### रस की अलौकिकता का दूसरा सिद्धान्त

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि आप रस को न कार्य मानते हैं और न ज्ञाप्य। फिर भी यहाँ कह रहे हैं कि वहाँ विभाव जिसे व्यंजित होकर चर्वणीय होता है। यह दोनों बातें कैसे संगत हो सकती हैं क्योंकि संसार में दो ही प्रकार के कारण होते हैं एक कारक दूसरा ज्ञापक। जब रस कार्य नहीं है तो उसका कोई कारक हेतु नहीं हो सकता है और इसके ज्ञाप्य न होने से उसका कोई ज्ञापक हेतु भी नहीं हो सकता है। इन कारक तथा ज्ञापक हेतुओं के अतिरिक्त और कोई तीसरा हेतु होता ही नहीं है तो विभावादी रस के व्यंजक कैसे हो सकते हैं। इस प्रश्न का उत्तर काव्यप्रकाश आचार्य मम्मट यह देते हैं कि इसलिए तो हम रस को अलौकिक मानते हैं लोक में जो कारक तथा ज्ञापक दो प्रकार के हेतु पाए जाते हैं। रस के व्यंजक हेतु विभावादि उन दोनों से विलक्षण अतएव अलौकिक है इसलिए यह अलौकिकत्व सिद्धि का आभूषण है दूषण नहीं। इस प्रकार हेतु की आलौकिकता से भी रस की अलौकिकता की सिद्ध होती है।

## रस की अलौकिकता का तीसरा सिद्धांत

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने रस को कार्य तथा ज्ञाप्य और उसके हेतु को कारक तथा ज्ञापक दोनों से भिन्न सिद्ध करके उसकी अलौकिकता उपपादन किया था। अगले प्रकरण में इसकी सिद्धि के लिए अभिनवगुप्त ने तीसरा सिद्धांत बताया कि उसका ग्रहण न सविकल्पक ज्ञान से हो सकता है और न निर्विकल्पक ज्ञान से है इसलिए भी वह अलौकिक है। सविकल्पक ज्ञान किसे कहते हैं इसके विषय में वर्णन करते हैं जिसमें पदार्थ के स्वरूप के अतिरिक्त उसके नाम उसकी जाति आदि का भी भान होता है।

नामजात्यादियोजनासहितं ज्ञानं सविकल्पकम्। जैसे घट— पट आदि पदार्थों उनके स्वरूप के साथ वस्तु के नाम जाति आदि का भी भान होता रहता है

घट— पट आदि ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। वह शब्द व्यवहार का विषय होता है परंतु रसानुभूति को स्व संवेदनमात्र रूप होती है। शब्द व्यवहार का विषय नहीं होती है इसलिए उसमें नामजात्यादि के भान का कोई अवसर नहीं है। अतएव रस को सविकल्पक ज्ञान से ग्राह्य नहीं कह सकते हैं।

सविकल्पक ज्ञान से भिन्न दूसरा निर्विकल्पक ज्ञान होता है। नामजात्यादियोजनासहित ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहते हैं तो नाम जाति विशेषण विशेष्यभाव आदि से रहित केवल वस्तुमात्र का अवगाहन करने वाला ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान कहलाता है। इस निर्विकल्पक ज्ञान को समझने के लिए बालक तथा मूकपुरुष के ज्ञान को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जाता है। बालक मूकादिविज्ञान सदृश निर्विकल्पकम्। उदाहरण के लिए एक घड़ी बालक के सामने रखी है बालक को इस घड़ी का ज्ञान उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार का किसी बड़े आदमी को। उसका गोल डायल उस पर बने हुए अंक और लगी हुई सूइयाँ हमारी ही तरह बालक को भी प्रतीत होती है। अंतर केवल इतना ही है कि बालक इसके नाम जाति आदि की योजना से रहित ज्ञान आदि को नहीं जानता है और बड़ा व्यक्ति इन सब को जानता है इसलिए बालक का ज्ञान नाम जाति आदि की योजना से रहित होने से निर्विकल्पक ज्ञान कहलाता है। और बड़े व्यक्तियों का ज्ञान सविकल्पक ज्ञान कहलाता है बड़े व्यक्तियों को जो सविकल्पक ज्ञान होता है, वह भी प्रथम क्षण में निर्विकल्पक ज्ञान ही होता है। शब्द व्यवहार में आ जाने से वह अत्यंत शीघ्रता से सविकल्पक ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है इसलिए उसका निर्विकल्पक स्वरूप अनुभव में नहीं आता है। रस की प्रतीति में विभावादि की प्रतीति भी होती रहती है इसलिए समूहालंबनात्मक ज्ञान होने से निर्विकल्पक ज्ञान भी उसका ग्राहक नहीं हो सकता है और न वह सविकल्पक ज्ञान का विषय होता है यह भी अलौकिकत्व सिद्धान्त का प्रमाण है।

काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास का यह प्रकरण साहित्य शास्त्र के इतिहास में सामाजिकगत रस निष्पत्ति के सिद्धांत का द्योतक है। भरत सूत्र की व्याख्या में जो अनेक मत पाए जाते हैं उनका संग्रह काव्यप्रकाशकार ने बड़ी सुंदरता के साथ किया है। वह प्रकरण यद्यपि काव्य प्रकाशकार में अभिनवभारती से लिया है परंतु उन्होंने अभिनव भारती के अत्यंत विस्तृत एवं जटिल विवेचन को संक्षिप्त एवं अपेक्षाकृत सरल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है इन मतों में से अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा प्रतिपादित मत ही काव्यप्रकाशकार का रस विषयक सिद्धांतपक्ष है।

## I. बोधप्रश्न

1. अनुमितिवाद का रस सिद्धान्त किसका है ?
2. भट्टलोल्लट के सिद्धान्त का नाम क्या है ?
3. भरतमुनि के रससूत्र के महत्वपूर्ण व्याख्याकार कौन है ?
4. अभिनवगुप्त रचित भरतनाट्यशास्त्र का नाम क्या है ?

## II. अभ्यास प्रश्न

1. रस की अलौकिकता के प्रथम सिद्धान्त को लिखिये ।
2. रस की अलौकिकता का दूसरा सिद्धान्त को लिखिये ।
3. रस की अलौकिकता का तीसरे सिद्धान्त को लिखिये ।

## 10.3 सारांश

भरतमुनि ने अपने 'रसनिष्पत्ति' सूत्र में 'व्यभिचारी' के नाम से जिन भावों का संकेत किया था, वे कालांतर में संचारी के नाम से अधिक प्रचलित और प्रयोगगत हो गये। व्यभिचारी शब्द का प्रयोग (हीन अर्थ में) ऐसे व्यक्ति के लिए भी किया जाता है जो दुराचारी अथवा लम्पट हो। अस्तु, इन दोनों में से किसी भी शब्द को स्वेच्छापूर्वक प्रयुक्त करने के लिए सभी व्यक्ति स्वतंत्र हैं क्योंकि दोनों ही शब्द संचरणशील भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। व्यभिचारी अथवा संचारी भाव संचरणशील अथवा अस्थिर मनोवृत्तियों के द्योतक हैं। वे स्थायी भावों की तुलना में कम समय तक टिकते हैं। इस प्रकार के भावों से कभी हर्ष-विवाद, कभी लज्जा-चिंता और कभी उत्सुकता अथवा शंका व्यक्त होती है किन्तु उनका प्रकटीकरण स्थायी भावों के उपचय में बाधक नहीं बनता। तथ्य यह है कि परिस्थिति विशेष में स्थायी भाव भी अपने मूल (नियत) रस से हटकर अन्य रसों में भाव बन जाता है। जैसे रति और शोक भाव क्रमशः श्रृंगार और करुण रस से निकल कर अन्य रसों में संचारी भाव के भी रूप धारण कर लेते हैं। इन सबका अध्ययन आपने इस इकाई में किया है ।

## 10.4 शब्दावली

| शब्द   | अर्थ                              |
|--------|-----------------------------------|
| अलौकिक | जो इस लोक का न हों                |
| अस्थिर | स्थिरता से रहित                   |
| योजना  | कार्यक्रम बनाना/रणनीति तैयार करना |
| संचरण  | गति युक्त                         |
| शंका   | संदेह                             |
| बाधक   | रुकावट                            |

## 10.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, उमाशंकर शर्मा ऋषि, चौखम्बा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी

2. काव्यप्रकाश , आचार्यविश्वेश्वर , चौखम्बा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी
3. वैदिक साहित्य, कपिलदेव द्विवेदी, चौखम्बा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी

---

## 10.6 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

---

### I. बोध प्रश्नों के उत्तर

1. शंकुक
2. उत्पत्तिवाद
3. भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्त मुख्य व्याख्याकार हैं
4. अभिनवभारती नामक टीका

### II. अभ्यास प्रश्न—

इस प्रश्न का उत्तर विद्यार्थी स्वयं लिखें।



---

## इकाई 11 रसानुभूति की चार मानसिक अवस्थायें— विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप

---

### इकाई की रूपरेखा

- 11.0 उद्देश्य
- 11.1 प्रस्तावना
- 11.2 रसानुभूति की चार मानसिक अवस्थायें—विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप
- 11.3 सारांश
- 11.4 शब्दावली
- 11.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 11.6 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

---

### 11.0 उद्देश्य

---

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- रसानुभूति की चार मानसिक अवस्थायें—विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप के विषय में जान सकेंगे।
- रसानुभूति के विषय में परिचित होंगे।
- सात्विक रस के विषय में परिचित होंगे।
- रसानुभूति के परम्परा के विषय में परिचित होंगे।
- विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप के विषय में परिचित होंगे।

---

### 11.1 प्रस्तावना

---

संस्कृत काव्य शास्त्र से सम्बन्धित खण्ड दो की यह 11वीं इकाई है। इस इकाई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि साहित्यशास्त्र में अनुसार रसानुभूति की चार मानसिक अवस्थायें—विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप क्या हैं? इसके विषय में वर्णन किया गया है। सहृदय सामाजिक के हृदय में कुछ भाव संस्कार से होते हैं इसलिए सुख—दुःख की अनुभूति उसे होती है। प्रसन्नता, क्रोध, उत्साह, करुण तथा जगुप्सा आदि विभिन्न भाव उसके अंतःकरण में रहते हैं। काव्य अथवा नाट्य में वर्णित इन सुख—दुःख आदि भावों की अनुभूति सहृदय जनों को अपने अपने अनुभव से होती है। काव्यशास्त्रियों ने इन समस्त भावों को विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के अंतर्गत ही समाविष्ट किया है। नाटक में जब श्रोतागण वीरों का वर्णन सुनते हैं तो उनको बुद्धि में उत्साहयुक्त वीरों का रूप उपस्थित हो जाता है और उनके संबंध में वर्णित विभावादि से संसृष्ट उत्साह के साथ सामाजिक को चित्त की तन्मयता हो जाती है। प्राचीन आचार्यों ने रसानुभूति के विषय में कहा है कि रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः इस नियम के अनुसार रजोगुण और तमोगुण दोनों बने हुए असंस्पृष्ट अन्तःकरण रसानुभूति के प्रसंग में सत्त्व कहलाता है। काव्यार्थ के परिशीलन अथवा काव्य के विभावादी के मेल से उत्पन्न होने वाले आनंद का अनुभव ही रसानुभूति कहलाता है रस और

अनुभूति में कोई भिन्नता नहीं है। रस आस्वादन रूप ही हैं। रसः स्वाद्यतेद अर्थात् रसास्वादन होता है इत्यादि प्रयोग कल्पित भेद मानकर किए हुए समझने चाहिए। इसके अंदर अभेद होने पर भी औपचारिक रूप से भेद को स्वीकार करके ही वैसा प्रयोग किया जाता है। काव्य और उसके अर्थ के साथ तन्मयता हो जाने पर जिस आनंद का अनुभव होता है वही स्वाद रस कहलाता है, वही रसानुभूति है।

## 11.2 रसानुभूति की चार मानसिक अवस्थायें—विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप

### रसानुभूति

काव्य आदि के सुनने से अथवा नाटक के देखने से आलंबन और उद्दीपन विभावों, भूविक्षेप, कटाक्षादि अनुभवों और निर्वेद, ग्लानि आदि तैत्तीस संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर सहृदय सामाजिकों के हृदय में स्थित है वासनास्वरूप रति, हास, शोकादि स्थायीभाव शृंगार, हास्य और करुण आदि रसों के रूप में परिणत हो जाते हैं अर्थात् वही रसानुभूति है।

काव्य के व्यंजना वृत्ति के द्वारा रसानुभूति की प्रतीति होती है। धनंजय इस बात को स्वीकार न करते हुए अपना मत प्रस्तुत करते हैं—

**वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।**

**वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायीभावस्तथेतरेः॥**

किसी वाक्य को सुनकर या पढ़कर उस वाक्य के प्रकरण, वक्ता, श्रोता, देश काल आदि का ज्ञान प्राप्त करके, इस प्रकरण के द्वारा प्रयुक्त कारकों की सहायता से वाक्य में साक्षात् उत्पाद्य शब्द वाक्य में अर्थ क्रिया का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

जिस प्रकार — गाय लाओ ! अनेक जिसमें क्रिया का प्रयोग किया जाता है तथा द्वार को द्वार को ; इत्यादि जिनमें क्रिया का प्रयोग नहीं होता है दोनों प्रकार के लौकिक वाक्यों में क्रमशः क्रिया वाचक शब्द के प्रयोग से अथवा प्रकरण आदि के कारण बुद्धि में स्थित होने वाली क्रिया है, कारकों से अन्वित होकर वाक्य का अर्थ हुआ करती है, उसी प्रकार काव्य के विषय में भी होता है। कहीं तो प्रियै नवोढा प्रिया ; इत्यादि में स्थायी भाव के वाचक पद का प्रयोग होने से और कहीं प्रकरण आदि के द्वारा अथवा काव्य में वर्णित नियत विभाव आदि के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण सहृदय जनों के चित्त में रति आदि स्थायी भाव साक्षात् रूप से स्फुरित होने लगता है। वह स्थायी भाव भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा प्रकट किये गये अपने-अपने विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावों के द्वारा संस्कार परम्परा से अत्यन्त पुष्ट हो जाता है और वही वाक्यार्थ होता है।

रसानुभूति के विषय में आचार्य धनंजय ने कहा है —

**वभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।**

**अनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥**

विभाव अनुभाव सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा आस्वादन के योग्य स्थायी भाव ही रस है।

सहृदय सामाजिक के हृदय में कुछ भाव संस्कार से होते हैं इसलिए सुख-दुःख की

अनुभूति उसे होती है। प्रसन्नता, क्रोध, उत्साह, करुण तथा जगुप्सा आदि विभिन्न भाव उसके अंतःकरण में रहते हैं। काव्य अथवा नाट्य में वर्णित इन सुख-दुःख आदि भावों की अनुभूति सहृदयजनों को अपने-अपने अनुभव से होती है। काव्य शास्त्रियों ने इन समस्त भावों को विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के अंतर्गत ही समाविष्ट किया है।

सहृदयजनों को रस की अनुभूति कराना ही नाट्य शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है। अतः दशरूपकों में रसानुभूति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रथमतः नाट्यशास्त्र के प्रसंग में ही रसानुभूति का वर्णन किया गया है।

धनंजय के अनुसार रसानुभूति —

**रसः स एव स्याद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात् ।**

**नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः ।।**

उस स्थायी भाव को ही रस कहते हैं, क्योंकि एक तो उसका रसास्वादन किया जाता है, दूसरे वह सहृदय में रहता है। अनुकार्य ( राम, दुष्यन्त ) के हृदय में नहीं रहता, क्योंकि वे अतीत काल में थे।

धनंजय ने रसानुभूति को स्पष्ट किया है कि जब स्थायी भाव काव्यार्थ द्वारा उत्पन्न किया जाता है और हृदय में ही रहता है तब उसे रस कहते हैं क्योंकि रसानुभूति सहृदयों ही रहता है अथवा नाटक के अभिनय काल में सामाजिक ही उपस्थित रहता है, अतएव सामाजिक में ही रस की उपस्थिति संभव हो सकती है अनु कार्य राम या दुष्यन्त में नहीं, क्योंकि नट तो अनुकार्य राम इत्यादि का अनुकरण करता है यद्यपि कुछ रसानुभूति उसे भी होती है, क्योंकि सात्विक अभिनय का अनुकरण तभी सफल होता है, जब वह अनुकार्य राम — सीतादि सुखदुःख से सुखी और दुःखी हो किंतु मुख्यतः रसानुभूति सामाजिकों को ही होती है क्योंकि वर्तमान काल में विद्यमान होते हैं, अनुकार्य राम सीतादि तो अतीत काल में ही हो चुके होते हैं।

नाटक में जब श्रोतागण वीरों का वर्णन सुनते हैं तो उनको बुद्धि में उत्साहयुक्त वीरों का रूप उपस्थित हो जाता है और उनके संबंध में वर्णित विभावादि से संसृष्ट उत्साह के साथ सामाजिक को चित्त की तन्मयता हो जाती है। इस प्रकार रसिक जन अपने उत्साह का आस्वादन करते हैं इस प्रकार मुख्य रूप से रसिक को रसास्वादन ही है। उसको रसानुभूति कराने के उद्देश्य से ही काव्य रचना की जाती है काव्यार्थ को भावना से नर्तक को भी रस का आस्वादन होता है। इस मत का विरोध नहीं किया जा सकता है।

प्राचीन आचार्यों ने रसानुभूति के विषय में कहा है कि रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः इस नियम के अनुसार रजोगुण और तमोगुण दोनों बने हुए असंस्पृष्ट अन्तःकरण रसानुभूति के प्रसंग में सत्त्व कहलाता है। इस प्रकार रजोगुण और तमोगुण के बीज भूत बने हुए मानस धर्मों को तिरस्कृत करके सत्त्वगुण के उद्रेक से अखंड अथवा पूर्ण अर्थात् विभाव तथा रति आदि का प्रकाश एवं सुख और चमत्कार इन सबसे अभिन्न एतदात्म स्वरूप स्वयं प्रकाश स्वरूप अर्थात् जिसका कोई अन्य प्रकाशक नहीं है। जिस प्रकारज्ञान के अनंतर अपना ज्ञान घटा दी को प्रकाशित कर देता है उसी प्रकार रसानुभूति ही अपने आप को प्रकाशित करता है। आनंदमय और चिन्मय अर्थात् चमत्कारमय रसानुभूति के समय अन्य ज्ञेय विषय के संपर्क से शून्य अर्थात् जिस समय रसानुभूति हो रही होती है उसी समय किसी अन्य ज्ञेय विषय का ज्ञान नहीं होता है

अतएव रसानुभूति परमात्मा के साक्षात्कार के समान अलौकिक चमत्कार है।

काव्यार्थ के परिशीलन अथवा काव्य के विभावादी के मेल से उत्पन्न होने वाले आनंद का अनुभव ही रसानुभूति कहलाता है रस और अनुभूति में कोई भिन्नता नहीं है। रस आस्वादन रूप ही हैं। रसः स्वाद्यतेद अर्थात् रसास्वादन होता है। इत्यादि प्रयोग कल्पित भेद मानकर किए हुए समझने चाहिए। इसके अंदर अभेद होने पर भी औपचारिक रूप से भेद को स्वीकार करके ही वैसा प्रयोग किया जाता है। उसी प्रकार रस और आस्वाद के अंदर कर्म और क्रिया के रूप में उल्लेख करना बिना भेद के संभव नहीं अतः अभेद होने पर भी काल्पनिक भेद को स्वीकार करके ही इस प्रकार का प्रयोग किया जाता है। परिणामतः रस आस्वाद रूप ही है। रसानुभूति कहते हैं उससे भिन्न नहीं, ऐसा समझना चाहिए अथवा इसमें कर्म – कर्ता का प्रयोग समझना चाहिए अर्थात् यहां पर एक ही काष्ठ में कर्मत्व और कर्तृत्व दोनों कहने की इच्छा से अभेद के आरोप की तरह, रसः स्वाद्यते, यहां पर भी आस्वाद्य आस्वादन में अभेद होने पर भी भेद के विवक्षा के कारण कर्म और कर्ता का प्रयोग समझना चाहिए।

काव्य और उसके अर्थ के साथ तन्मयता हो जाने पर जिस आनंद का अनुभव होता है वही स्वाद रस कहलाता है। वही रसानुभूति है। वह रसास्वाद चार प्रकार का होता है। 1. विकास, 2. विस्तार, 3. क्षोभ और 4. विक्षेप जो क्रमशः शृंगार, वीर, विभत्स और रौद्र में हुआ करता है। हास्य, अद्भुत, भयानक और करुण ये चार रस ही क्रमशः रहते हैं। जो दशरूपक में कहा गया है –

**स्वादः काव्यार्थ सम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः।**

**विकासविस्तारक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः॥**

**शृंगारवीरवीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात् ।**

**हास्याद्भूत भयोत्कर्ष करुणानां त एव हि॥**

जब स्थायीभाव सहृदय के चित्त में मेरे और पराए के भेद का भाव समाप्त कर देते हैं तब परमानन्द की जो अनुभूति होती है वही आनन्द स्वाद कहलाता है। यद्यपि यहां स्वाद सभी रसों में समान रूप से होता है फिर भी प्रत्येक रस में अपने-अपने विभावादि कारणों से उत्पन्न चित्त की तन्मयता हुआ करती है। चित्त की तन्मयता चार प्रकार की होती है। शृंगार रस में चित्त का विकास होता है वीर रस में चित्त का विस्तार होता है। विभत्स रस में चित्त का क्षोभ होता है और रौद्र रस में चित्त का विक्षेप होता है। इन रसों से भिन्न हास्य, अद्भुत, भयानक और करुण रस हैं जिनकी पुष्टि अपने-अपने विभावादि कारणों से होती है। उनमें विकास आदि चित्त की चार मानासिक अवस्थायें हुआ करती हैं भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में कहा है कि शृंगार से हास्य रस, वीर से अद्भुत रस, विभत्स से भयानक रस और रौद्र रस से करुण रस की उत्पत्ति होती है। रस सामाजिको के हृदय में सुखानुभूति कराते हैं। शृंगार, वीर हास्यादि रसों का अभिनय देखने से सामाजिकों को आनन्दानुभूति होती है। अतएव ये रस सुखात्मक हैं। यही सुखानुभूति करुणादि में भी होती है ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि दुरुखात्मक करुण, विभत्स, भयानक तथा रौद्र रसों की अनुभूति में सामाजिक आसुँ गिराते हैं रोते हैं। इस प्रकार उनके हृदय में दुःख का आविर्भाव होता है। अतः इन रसों से सामाजिकों को सुखानुभूति होती है यहाँ किस प्रकार का माना जा सकता है। इनका समाधान वृत्तिकार इस प्रकार करते हैं – करुण काव्यों के श्रवण से सहृदय रसिकों को दुःख होता है वे रोते हैं और आँसू गिराते हैं परंतु लौकिक करुणा से

काव्यगत करुणा भिन्न होती है। काव्यगत करुणा दुःखात्मक होते हुए भी आनन्दानुभूति कराती है। काव्य के रस के अलौकिक होने के कारण सहायों को पुनः — पुनः इसमें प्रवृत्ति होती है। यह रस दुःखात्मक होता तो कोई भी सामाजिक इनके पढ़ने या देखने के प्रति इच्छा नहीं करता।

### सात्विक रस

धनंजय ले दशरूपक में सातवीं के रस के विषय में वर्णन करते हैं —

**विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः ।**

**अनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥**

श्रव्य काव्य के श्रोताओं तथा अभिनय के दर्शकों के हृदय विशेष रूप से विद्यमान रति आदि स्थायीभाव होते हैं वे काव्य में वर्णित अथवा अभिनय द्वारा प्रदर्शित विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव और सात्विकभावों के द्वारा आस्वादन के योग्य अर्थात् अत्यधिक आनंदमय अभिनय के रूप में कर दिया जाता है वही सात्विक रस कहलाता है इस प्रकार सामाजिक ही रसिक है। काव्य तो केवल इस प्रकार की आनंदानुभूति के उद्बोधन का कारण होने से रसवत कहलाता है, जिस प्रकार आयुर्धृतम् इत्यादि व्यवहार हुआ करता है। यहाँ पर घृत आयु और वृद्धि का निमित्त होता है फिर भी औपचारिक रूप से यह कहा जाता है आयुर्धृतम् अर्थात् घृत ही आयु है। इसलिए काव्यशास्त्र या नाट्यशास्त्र के लिए रसास्वादन को हेतु बताया गया है। यह आनंदमय अनुभूति ही रसानुभूति है और आनन्दानुभूति ही चेतन का धर्म है अतः यह रस सामाजिक के हृदय में रहता है वह चेतन काव्य में नहीं रह सकता है इस प्रकार औपचारिक रूप से ही ऐसा व्यवहार करता हुआ ही रसवत कहा जाता है।

आचार्य धनंजय दशरूपक में कहते हैं कि —

**पृथग्भावा भवन्त्येन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्विकाः ।**

**सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भाव भावनम् ॥**

जो सात्विक है, यद्यपि यह अनुभाव ही हैं पृथग्रूप से भाव कहलाते हैं क्योंकि उनकी सत्त्व से ही रस की उत्पत्ति होती है सत्त्व का अर्थ है किसी भाव से भावित होना। अन्य के हृदय में स्थित दुःख और हर्ष की भावना से प्रायः उसी प्रकार के हृदय वाला हो जाना सत्त्व कहलाता है। ऐसा मन के एकाग्र होने से उत्पन्न होता है इसका सत्त्व यही है कि इसके द्वारा दुःखी होकर या हर्षित होकर अश्रु एवं रोमांच आदि उत्पन्न किये जाते हैं। सत्त्व के कारण वही भाव वस्तुतः सात्विक होते हैं किन्तु उनसे उत्पन्न होने के कारण अश्रु इत्यादि भी सात्विकभाव कहलाते हैं। आचार्य धनिक ने नाट्यशास्त्र में सात्विक शब्द की व्याख्या की है कि सत्त्व के द्वारा है अश्रु आदि का अभिनय हो सकता है, अतः ये सात्विक कहलाते हैं। अश्रु आदि भावों को सात्विकभाव कहने का अभिप्राय है कि यह सत्त्व विशेष से उत्पन्न होते हैं। यह सत्त्व मन की एक अवस्था है जो एकाग्रता से उत्पन्न होते हैं। इस अवस्था में मन एक दूसरे के सुख—दुःख में एकरूप हो जाता है। इसी सत्त्व के कारण ही नायक अनुकार्य दुष्यंत आदि से सुख—दुःख के भावना में अपने अंतःकरण को तन्मय कर लेता है। नायक के मन में जो भावना होती है वह सत्त्व जन्य होती है। वस्तुतः ये आरोपित सुख—दुःख ही सात्विक होते हैं इनके द्वारा ही नट रोमांच आदि को प्रकट करता है। अतः उसके अश्रु, रोमांच इत्यादि सात्विकभाव से उत्पन्न होने के कारण

सात्विकभाव कहलाते हैं। ये अश्रु इत्यादि भाव वस्तुतः अनुभव है क्योंकि यह अनुभावों के समान ही हृदय में स्थित सुख दुःख आदि भावों के विकार होते हैं और उनकी सूचना देते हैं।

आचार्य धनिक ने जिस अर्थ में भाव की व्युत्पत्ति की है वह रसिक के हृदय में भावितभाव के दृष्टि से की है अतः दोनों का विषय भिन्न होने से इस व्युत्पत्ति का प्राचीन आचार्यों की व्युत्पत्ति से कोई अन्तर नहीं है। यद्यपि सात्विकभावों में अनुभावत्व है वे अनुभावों की तरह आश्रय की विकार है। फिर भी सात्विकभाव अलग से भाव माने जाते हैं। इन सात्विकों की भाव संज्ञा इसलिए दी जाती है कि वे सत्त्व से ही उत्पन्न होते हैं सत्त्व का अर्थ है अनुकार्य रामादि के दुःखादि भाव से भावक के चित्त भावित होना।

सत्त्व का अर्थ है मनस से उत्पन्न होना। यह सत्त्व तो मन की एकाग्रता होती है मन का सत्त्व यही है कि जब वह दुःखी या प्रसन्न होता है तो अश्रु रोमांचादि सत्त्व से निवृत्त होते हैं। अतः इसलिए वे सात्विकभाव कहे जाते हैं इसलिए सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण ये अश्रु आदि ये भाव के सूचक हैं अतः ये भाव कहे जाते हैं। दूसरी ओर ये विकार रूप भी है इसलिए अनुभाव भी है। इस तरह अश्रु आदि एक ओर सात्विक भाव तथा दूसरी ओर अनुभाव इन दो रूपों से पद्य युक्त होते हैं।

उदाहरण के लिए धनंजय ने एक ही पद्य में सारे सात्विकभावों का उल्लेख कर दिया है —

वेपते स्वेदवदना रोमांचं गात्रे वपति ।

विलोलस्ततो वलयो लघु बाहुवल्यां रणति ॥

मुखं श्याममलं भवति क्षण विमूर्च्छति विदग्धेन ।

मुग्धा मुखवल्ली तव प्रेम्णा सापि न धैर्यं करोति ॥

कोई सखी नायिका के काम वेदना को व्यक्त करती हुई नायक से कहती हैं हे युवक ! तेरे प्रेम के कारण वह नायिका बिल्कुल धैर्य धारण नहीं करती। उसके चेहरे पर पसीना आ जाता है उसके शरीर में रुठ जाते हैं तथा चंचल कड़ा बाहुरूपी लता में मन्द— मन्द शब्द करता है। उसका मुख काला पड़ जाता है तथा क्षण—भर के लिये वह मूर्च्छित सी हो जाती है। उसकी मुखरूपी लता कुछ भी सहन नहीं कर सकती है।

स्तम्भप्रलयः रोमाञ्चः स्वेदो वैवर्ण्यं वेपयुधुः

अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ स्तम्भौस्मिन्निष्क्रियांगता

प्रलयो नष्टसंज्ञत्वम् शेषा सुव्यक्तलक्षणाः

सात्विकभाव आठ प्रकार के होते हैं।

स्तम्भ प्रलय, रोमाञ्च, स्वेद, अश्रु तथा वैवर्ण्य इनमें अंगों का क्रिया रहित हो जाना स्तम्भ है, तथा चेतना का नष्ट हो जाना प्रलय है। अन्य का ज्ञान स्पष्ट है।

रसानुभूति की परम्परा

अलंकार शास्त्र में रस से संबंध परंपरा विद्यमान है जो विचारणीय है अनुभूति एवं तर्क के आधार पर ज्ञान आवश्यक है। रस के संबंध में सर्वमान्य परम्परा यही से स्थापित

हुई है कि विभावादि से व्यक्त होकर स्थायीभाव ही रस बनते हैं अर्थात् स्थायीभावों की रसात्मक अनुभूति होती है। इसके विषय में काव्यप्रकाशकार मम्मट ने लिखा है कि —

**व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः।**

चित्तवृत्तियों की अनन्तता में भी आठ या नौ स्थायीभाव चित्तवृत्तियाँ जो वासना रूप में सभी सहृदयों के हृदय में विद्यमान रहती है उनकी ही रसरूप में अनुभूति होती है। किंतु इस विषय में अनेक परवर्ती आचार्यों ने एक ही मूल रस सिद्धांत प्रतिपादित किया है जिसमें शृंगार, शान्त, करुण तथा भक्ति रस को अलग-अलग मूल रस मानने की परंपरा प्रचलित है।

सर्वप्रथम रस की परम्परा में भरत मुनि ने मूल रस के रूप में शृंगार, रौद्र, वीर तथा भयानक रसों की उत्पत्ति क्रमशः उन्हीं से स्वीकार की है। इस प्रकार रसों में गुणप्रधान भाव मानने के पीछे भरतमुनि का क्या अभिप्राय था? इस पर विचार करना आवश्यक है। विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप या द्रुति, दीप्ति, विकास और विक्षेप इन चार प्रमुख चित्त की अवस्थाओं के आधार पर यदि उपर्युक्त चारों रसों को प्रधान माना जाए अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थ से संबंध करके यदि चारों रसों को मुख्यतः प्रतिपादित किया जाए तो संभव है, क्योंकि चित्त की अवस्थाओं की दृष्टि से शृंगार में रस में चित्त रस की द्रुति, वीर रस में दीप्ति, रौद्र रस में क्षोभ तथा विभत्स में चित्त की विक्षेप अवस्था रहती है। इसी प्रकार पुरुषार्थों की दृष्टि से वीर का संबंध धर्म से, रौद्र का अर्थ है शृंगार रस का काम से तथा विभत्स का मोक्ष से स्थापित किया जा सकता है इस रूप में इनकी प्रधानता स्वीकार कर लेने पर भी शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण वीर से अद्भुत तथा विभत्स से भयानक रस के उत्पन्न होने के बाद तर्क सिद्ध नहीं प्रतीत होती, क्योंकि हास्य की उत्पत्ति केवल शृंगार रस से ही नहीं होती अन्य रसों से भी हास्य रस की उत्पत्ति देखी जाती है। इसी प्रकार ही करुण रस उत्पन्न हो यह निश्चित नियम नहीं है बल्कि उसके विपरीत करुण से भी रौद्र रस की उत्पत्ति अनेक नाटकों में देखी गई है। उदाहरण के लिए महाभारत के अभिमन्यु वध प्रसंग का ही स्मरण करें अभिमन्यु की मृत्यु का समाचार सुनकर दूसरे दिन सूर्यास्त से पहले ही जयद्रथ को मारने के लिए अर्जुन का प्रतिज्ञा करना यहां करुण से रौद्र का भाव जग रहा है। इसी प्रकार वीर से ही अद्भुत रस के उत्पत्ति तथा विभत्स रस से भयानक रस की उत्पत्ति संबंधी विचार भी मान्य नहीं है क्योंकि रौद्र से भी भयानक रस के उत्पत्ति संभव है। अद्भुत का संबंध सामान्य रसों से भी है अतः केवल चार रस को मुख्य मानकर उससे अन्य चार की उत्पत्ति एक नियमबद्ध विचार युक्तियुक्त नहीं है। दूसरी बात यह है कि जब स्थायीभाव ही रस होते हैं तो सभी रस समान महत्व के हैं। उसमें गौण प्राधान्य जैसी कोई बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि स्थायीभाव के रूप में सभी अस् स्थायित्वेन चित्त में अवस्थित प्राप्त करते हैं।

अनुभूति की दृष्टि से सभी रसों में हृदय की आनन्दात्मिका विश्रान्ति के रूप में या काव्य तथा नाटक में विद्यमान आनन्द को ध्यान में रखकर रस की एकता अनुभव सिद्ध है। इस विषय में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं है; किन्तु केवल एक रस को मूल मानकर शेष रसों को उसी से उत्पन्न मानने के पीछे कोई युक्ति नहीं है। अतः विद्वानों द्वारा प्रस्तुत शृङ्गार, शान्त, करुण आदि से सम्बद्ध मूल रसविषयक विचार सर्वथा भ्रामक एवं निराधार प्रतीत होता है। यही कारण है कि भरत के पश्चात् ध्वनिवादी आचार्यों ने इस विषय पर किसी प्रकार की चर्चा नहीं की। उन्होंने

स्थायीभावों की विविधता के आधार नौ रसों को स्वीकार कर सबको समान महत्व दिया।

इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र के अनेक आचार्यों ने अपनी रुचि की प्रधानता या रसविशेष के प्रति विशेष आग्रह के कारण शान्त, करुण, अद्भुत, शृङ्गार, वीर तथा भक्ति को मूल रस कहा गया है। वस्तुतः उसका कोई तार्किक आधार नहीं है।

अनेक विद्वान् भवभूतिरचित उतररामचरित के तृतीय अङ्क में तमसा की उक्ति—

**एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्, भिन्नं पृथक् पृथग्विश्रयते विवर्तान्।**

के आधार पर करुण रस को भवभूति के अनुसार मूल रस मानकर उसका विचार करते हैं, किन्तु यह एक कवि का उच्छ्वास है, कोई शास्त्रीय प्रतिष्ठा नहीं अतः करुण को मूल रस मानने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इतना अवश्य है कि करुण रस के आलम्बनादि हृदय को प्रबल रूप में स्पर्श करते हैं। उतररामचरित में राम जैसे नायक का रोते एवं विलाप करते देखकर तमसा उस करुण अनुभव को शब्दों में व्यक्त करती है। उस नाटक में कारुण्य की सृष्टि के लिए शिलाओं को भी रोते तथा वज्र के भी हृदय को दो टूक होते वर्णित किया गया है। यह नाटक अपनी कारुणिक अनुभूति से, वेदना की गहनता एवं तीव्रता से अधिक से अधिक लोगों को व्याकुल करने का सामर्थ्य रखता है। करुण का जैसा परिपाक यहाँ हुआ है। वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी उस नाटक का अङ्गी रस करुण नहीं; विप्रलम्भ शृङ्गार ही ठहरता है। नाटक में करुणा के प्रवाह, उसकी व्यापकता, वेदना की गहनता आदि को देखकर 'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते' इस रूप में भवभूति की प्रशंसा अवश्य की गई है। अतः इससे यह शास्त्रीय मान्यता नहीं बनती। कि करुण ही मूल रस हैं जिससे अन्य सभी रस उत्पन्न होते हैं।

मूल रस सम्बन्धी इस विवेचन क्रम में आचार्य भोजराज ने तथा 16 वीं शताब्दी के वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामी ने कुछ नये ढंग से शृङ्गार तथा भक्ति को मूल रस मानने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। हम क्रमशः उक्त दोनों आचार्यों की मूल रस विषयक स्थापनाओं पर विचार करेंगे।

शृङ्गार ही मूल रस—

भोजराज ने अपने शृङ्गारप्रकाश तथा 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक ग्रन्थ में अनोखे ढंग से शृङ्गार की सर्वातिशायिनी महत्ता प्रतिपादन करते हुए केवल शृङ्गार रस को ही मूल रस स्वीकार किया है। इनकी प्रसिद्ध कृति 'शृङ्गारप्रकाश' का नामकरण ही उक्त रस की महत्ता को ख्यापित करता है। भोज ने शृङ्गार, वीर, आदि दस रसों के स्थान पर रस की संज्ञा केवल शृङ्गार को दी है। शृङ्गार को इन्होंने अलङ्कार और अभिमान का पर्याय माना है। इनके द्वारा 'अहङ्कार' शब्द मिथ्या वर्ग अथवा उत्तेजनाजन्य अभिमान का वाचक न होकर मनुष्य के सहज अनुराग का द्योतक है। इसी अहभाव (आत्मानुराग) के कारण वह अपने स्नेहाद्र व्यक्तित्व का आभास प्राप्त करता है। किसी कोमलांगी स्त्री द्वारा स्निग्ध दृष्टि से देखे जाने पर किसी पुरुष में आत्मज्ञान, आत्मविश्वास एवं आत्मानुराग की जो भावना जागरित होकर उसे सहज सुख में आत्मविभोर कर देती है, वह 'अहङ्कार' की ही स्थिति या प्रभाव है। उस समय पुरुष या मनमयूर नाच उठता है। तथा वह अपने को धन्य कृतकृत्य एवं स्नेहभाजन मानने लगता है—

अहो अहो नमो मह्यं यदहं विक्षितोऽनया ।

मुग्धया त्रस्तसारंगतरलायतनेत्रया ।।।।

रसानुभूति की चार  
मानसिक अवस्थायें—  
विकास, विस्तार,  
क्षोभ और विक्षेप

भोजराज इसी 'अहङ्कार' को रस कहते हैं। उनके अनुसार रस की परिभाषा है। मनोनुकूल दुःखादि भावों में भी आत्मगत सुखद अभिमान की प्रतीति। इसी अहङ्कार का अपर नाम शृङ्गार भी है; क्योंकि यहीं सामाजिक को शृङ्ग अर्थात् सुख की चोटी (पराकाष्ठा) तक पहुँचा देता है। अतः भोज को केवल 'अहङ्कार' अथवा उसके पर्यायवाची शृङ्गार को ही रस की संज्ञा देनी अभिष्ट है। अन्य तथाकथित रसों को नहीं।

भोज के अनुसार 'अहङ्कार' नामक यह मूल प्रवृत्ति व्यक्ति को सुलभ नहीं है। यह पुण्यात्माओं द्वारा पूर्वजन्म के निर्मल कर्मों और अनुभवों से प्राप्त होता है। यही मनुष्य कि आत्मा कि सम्पत्ति है और श्रेष्ठ गुणों के उदय का कारण भी सहृदय रसिक अथवा सामाजिक कहलाने का अधिकारी भी केवल वही है, जिसमें यह अहङ्कार नामक प्रवृत्ति जाग्रित हो जिस व्यक्ति में अहंकार हो अथवा शृंगार का अस्तित्व है। वही रसिक कहलाता है। अन्यथा वही व्यक्ति नीरस कहा जाएगा। अहंकारी दूसरे शब्दों में शृंगारी कवि अथवा सामाजिक ही जगत् को रसमय बना सकता है और काव्यानन्द करा सकता है। अहंकारी अथवा शृंगारी व्यक्ति में रति, हास उत्साह आदि भावों का उदय होता है न कि अहंकारी अथवा अरसिक व्यक्ति में। अतः भरतादि के अनुसार रत्यादि से रस कि उत्पत्ति मानना उचित नहीं है अपितु आत्मा कि अहंकार विशेष शृंगाराख्य रस से ही रत्यादि कि उत्पत्ति मानना उचित है

जैसा कि पहले उल्लेख भी किया गया है—भोज भरत कि परंपरा का उल्लंघन करते हुए भरतोक्त रत्यादि आठ भावों, को स्थायी निर्वेद आदि तैंतीस भावों को संचारी तथा स्तम्भादि आठ भावों को सात्विक नामों से कहना भी उचित नहीं समझते। भोज के अनुसार ये सभी भाव परिस्थिति और समय के अनुसार स्थायी और बन सकते हैं। तथा सत्त्व अथार्त् मन से प्रभूत होने के कारण ये सभी भाव सात्विक भी कहलाते हैं। उपर्युक्त 49 भाव मनुष्य के अहङ्कारतत्त्व से प्रकट होकर इसी अहङ्कार अथवा शृङ्गार को उसी प्रकार प्रकाशित करते हैं, जैसे अग्नि से उत्पन्न ज्वालायें स्वयं अग्नि को चारों ओर से प्रकाशित करती हैं अथवा अहङ्कार उस नृपति के समान है, जिसके चारों ओर 'भाव' रूपी सामन्तवर्ग घेर कर सदैव उसकी शोभा बढ़ाते हैं।

भोज के मत में उपर्युक्त सभी के सभी 49 भाव, न कि भरतादि के अनुसार केवल रत्यादि आठ स्थायीभाव के अनुप्रवेश के कारण विभावादि के द्वारा प्रकृष्टावस्था को पहुँचकर आनन्दप्रद बन जाते हैं। और इन्हें उपचार द्वारा 'रस' नाम से कहा जाता है। वस्तुतः ये प्रमुख रूप से तो भाव ही हैं क्योंकि एक तो ये भोजसम्मत रसपरिभाषा—मनोनुकूल दुःखादि में आत्मगत सुखाभिमान की प्रतीति की कसौटी पर खरे नहीं उतरती और दूसरे ये सभी भाव और रस में स्पष्ट अन्तर हैं। भाव भावनापथ पर आरूढ़ है, किन्तु रस भावनापथ से अतीत हैं। अतः एकमात्र "अहङ्कार" (शृङ्गार) ही रस स्वीकार्य हैं। यदि रत्यादि भावजन्य आनन्दप्रदान को भी उपचार द्वारा 'रस' कहना है, तो सभी भावों में आनन्द की क्षमता विद्यमान होने के कारण रसों की संख्या 89 तक पहुँच सकती है।

भोज ने 'रस' कहना है, तो सभी भावों में आनन्द कि क्षमता विद्यमान होने के कारण रसों की संख्या 48 तक पहुँच सकती है।

भोज ने रस को तीन कोटियों में विभाजित किया गया है। —रूढाहंकारता, अर्थात् मानव में अहङ्कार की अवस्थिति, यह रस की प्रथमकोटि है। रत्यादि 49 भावों की परप्रकर्षता को (उपचार द्वारा) रस नाम से व्यपदिष्ट करना, यह दूसरी कोटि है। रति, हास, शोक, उत्साह, आदि भावों की प्रेम रूप में परिणति तीसरी कोटि है। तीसरी कोटि को भोज ने 'प्रेमन्' की संज्ञा दी है।

इस प्रकार हम देखते हैं। कि भोजराज अभिमान एवं अहङ्कार को शृंगार रस से सम्बद्ध करते हुए एक विलक्षण दृष्टिकोण से शृंगार रस को एकमात्र रस घोषित करते हैं। इन्होंने शृङ्गार शब्द का प्रयोग परम्परा से हट कर सर्वथा नवीन अर्थ में किया है। अतः उद्भावना की मौलिकता एवं नवीनता के होते हुए भी भोजराज के सिद्धान्त में कोई विशेष बल प्रतीत नहीं होता।

भोज ने अहङ्कार के रूप में मनुष्य की उस मूल प्रवृत्त्यात्मक अंश को ग्रहण किया है। जिसके आधार पर हमारे समस्त क्रियाव्यापार चलते हैं। उसी को उन्होंने शृंगार का नाम दिया है। पाश्चात्य फ्रायडियन सिद्धान्त में जिस प्रकार काम की प्रधानता स्वीकार की गई है। भोज भी यहाँ कुछ उसी तरह के सिद्धान्त के परिपोषक प्रतीत होते हैं, पाश्चात्य फ्रायडियन सिद्धान्त में उत्साहपूर्वक जीने की इच्छा ही काम की प्रवृत्ति है। भोज भी उसी अर्थ में अहंकार का प्रयोग करते हुए प्रतीत होते हैं, अतः इनका शृङ्गार रति नामक स्थायी भाव का वाचक न होकर अपने व्यापक अर्थ में मनुष्य की उस मूल चेतना का प्रतीक है। जिसमें सभी प्रकार के अनुभव समाहित होते हैं। भोजराज ने शृंगार के रूप में उस अभिमान या अहंतत्व को अभिहित किया गया है। जो समस्त चितवृत्तियों का मूल है, जिस अहंतत्व के चारों ओर चितवृत्तियाँ उसी प्रकार विद्यमान रहती हैं, जैसे सूर्य के चारों ओर रश्मियाँ। अतः भोजराज का शृंगार रस को मूल रस कहने के पीछे वह मनोवैज्ञानिक अतल गहराई है, जो सभी भावों एवं वृत्तियों को केन्द्रित पर अलङ्कार के रूप में प्रकट हुई है, तात्त्विक दृष्टि से यहां भोज तथा अभिनव के मत में कोई अन्तर नहीं है। दोनों के यहां आत्मप्रतीति एक समान है। भले ही नाम भिन्न— भिन्न हो। दोनों के मूल में विराजमान रहस्य तत्व एक ही हैं। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भोजराज का मत मनोवैज्ञानिक गहराई को स्पर्श करता हुआ शृंगार को ही एकमात्र रस मानने का पक्षपाती है। भोज ने अहङ्कार की विशिष्ट परिभाषा कर शृंगार से सम्बद्ध किया। अहंकार के उस विलक्षण स्वरूप से रससम्बन्धी सारे व्याख्यान संभव नहीं थे इसीलिए परवर्ती काल में भोज के इस सिद्धान्त को व्यापक स्वीकृति नहीं मिल सकी।

### भक्ति मूल रस

16 शताब्दी में भारतीय वाङ्मय में भक्ति काव्य का प्रचुर विकास हो जाने पर वैष्णव आचार्यों ने भक्ति रस की प्रतिष्ठा ही नहीं अपितु उसे ही मूल रस घोषित किया। भक्ति एक स्वतन्त्र रस है। इस धारण के सर्वाधिक पोषक आचार्य है। — रूपगोस्वामी भरत की परंपरा में देवता गुरु एवं राजाविषयक रति को भाव की संज्ञा दी गई थी। अभिनवगुप्त ने भी भक्ति और श्रद्धा को ईश्वरप्रणिधान विषय मानकर इन्हें स्मृति, मति, धृति आदि संचारीभावों में अथवा उत्साह स्थायीभाव अन्तर्भूत माना था। धनंजय ने भी भक्ति को एक सामान्य भाव ही कहा था। किन्तु रूपगोस्वामी ने उपर्युक्त सभी धारणाओं को अस्वीकार करते हुए कहा कि—'भक्ति कोई सामान्य भाव न होकर एक उदात्त एवम् उच्चभाव है, क्योंकि भक्त की तन्मयता भाव की स्थिति ही भक्ति है। इस आनन्दातिरेक के वशीभूत होकर भक्त लोग मोक्ष तक की स्पृहा नहीं करते।

रूपगोस्वामी के अनुसार भक्ति जैसे अनुभवसिद्ध तथा सहस्रगुणा आनन्द देने वाले रस को रस न मानना जड़ता है। इन्हीं के मत का समर्थन करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति को ही वास्तविक रस कहा है। पूर्णानन्दमय होने से भक्ति ही वास्तविक रस कहा। पूर्णानन्दमय होने से भक्ति ही वास्तविक रस हैं। यह शृंगार आदि रसों की अपेक्षा वैसे ही श्रेष्ठ हैं जैसे खद्योत की अपेक्षा सूर्य।

रूपगोस्वामी ने भक्तिरस, जिसका पर्याय मधुर रस भी है, उसके स्वतन्त्र विवेचन के लिए 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की। ग्रन्थकार ने स्वयं इस तथ्य का उद्घाटन किया है।

**मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।**

**पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः॥**

इसमें मधुर रस को 'उज्ज्वल' की संज्ञा दी गई है। रूपगोस्वामी के अनुसार भक्तिरस में अन्य काव्यरसों की स्थिति तो संचारियों के समान है—

**हासादीनां व्यभिचारिषु पर्यवसानात्।**

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैष्णव आचार्यों ने भक्ति को ही मूल रस या रसराट् कहकर उसकी व्याख्या प्रस्तुत की; किन्तु अलङ्कारशास्त्र के प्रायः आचार्य इसे भाव मानने के पक्ष में ही हैं। मम्मट तथा विश्वनाथ ने तो भक्ति को देवविषयक रति स्वीकार करते हुए रस न कहकर भाव ही कहा। पण्डितराज जगन्नाथ भी इसे रति का ही एक रूप स्वीकार कर स्वतन्त्र रस मानने के पक्ष में नहीं हैं। यहाँ यह कहा जा सकता है। कि वैष्णव भक्तों ने शुद्ध साम्प्रदायिक दृष्टि अपनाकर ही भक्ति को मूल रस कहा है।

भक्ति को रस माना जाय या नहीं? इस विषय पर डॉ. नगेन्द्र ने निम्न दो प्रश्न उपस्थित करते हुए पर्याप्त प्रकाश डाला है।

क) भक्ति काव्य का आस्वादयिता सहृदय है या भक्त?

ख) रति, शोक आदि की भाँति क्या 'भगवदरति' भी स्थायी भाव है, अर्थात् क्या यह भाव मानव के हृदय में वासनारूप से सदैव विद्यमान रहता है?

प्रथम प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा कि भक्ति काव्य का आस्वादयिता शुद्ध सहृदय नहीं, अपितु भक्त की सहृदयता विशिष्ट संस्कारों से वासित होती है। अतः इसे शुद्ध नहीं कह सकते। उदाहरणार्थ—सूरदास, मीरा आदि के पद्यों से किसी भक्तजन तथा सामान्य सहृदय — इन दोनों को एक समान आस्वाद नहीं प्राप्त होता। इस दृष्टि से भक्ति को रस नहीं मानना चाहिये, क्योंकि रस का भोक्ता सहृदय होता है, विशिष्ट संस्कारों में पला हुआ व्यक्ति नहीं।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में उनका कहना है कि आस्तिक जन तो यही मानेंगे कि भगवद् रति एक स्थायी भाव है; क्योंकि आत्मा और परमात्मा का नित्य सम्बन्ध है। यद्यपि सांसारिक राग—द्वेष के कारण यह 'भगवदरति' भाव धूमिल हो जाता है, फिर भी सदा विद्यमान रहता है; किन्तु आधुनिक विचारक के लिए ऐसी धारणा कि स्वीकृति आसान नहीं। यह सत्य है कि परोक्ष सत्ता के प्रति जिज्ञासा, विस्मय, प्रच्छन्न भय, अधीनता का भाव, महत्व स्वीकृति की है, किन्तु फिर भी भगवदरति भाव स्थायी नहीं होता। यह संसर्ग, अभ्यास, परम्परा तथा साधना द्वारा अर्जित होता है। अतः भक्ति को रस नहीं

मानना चाहिए। इन धारणाओं को प्रस्तुत करते हुए भी डॉ. नगेन्द्र अन्ततः भक्ति को रस स्वीकार कर ही लेते हैं।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से आचार्यों ने यदि देवताविषयक रति को 'भाव' कहा है। तो इससे भक्तिकाव्य की अवहीनता नहीं समझनी चाहिए। यह तो केवल एक शास्त्रीय परिधि एवं मर्यादामात्र है। भक्ति को रस मानने का आग्रह विद्वानों द्वारा शायद इसीलिए किया गया हो कि इसे 'भाव' मानने का तात्पर्य है कि भक्तिकाव्य आह्लादक नहीं है; किन्तु ऐसी बात नहीं है शास्त्रीय परिधि में भाव भी एक विशिष्ट काव्यतत्व है, जिसका स्थान रस के समीप ही है। रस, भाव, तदाभास, भाव शान्त्यादि आठों मूलतः एक ही है। जिन्हें ध्वनिवादि आचार्य कहते हैं

### काव्य में अंगीरस का निर्धारण

काव्य में अंगीरस रस का निर्धारणसम्बन्ध विचार भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। किस रस का को काव्य में अंगी या प्रधान बनाया जाए तथा उसका आधार क्या हो इसके समाधान में अनेक आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। भरत मुनि के अनुसार नाटक में जो सबसे अधिक या प्रधान रूप से विद्यमान रहता है। वह रस स्थायी या शेष रस संचारी या अंगभूत होते हैं।

**बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु।**

**स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सञ्चारिणो मताः॥**

प्रबन्ध में अनेक रसों का समावेश रहने पर भी किसी एक रस को अङ्गी रस अवश्य बनाना चाहिए इस विचार का समर्थन करते हुए आनन्द ने भी कहा है—

**प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने।**

**एको रसोऽङ्गीकर्तव्यः.....॥**

- 1) रस उसी का नाम है, जो स्वयं चमत्कार रूप है। यदि उसकी विश्रान्ति स्वचमत्काररूप नहीं होती है तो वह रस नहीं है। अंगागी भाव या उपकार्य-उपकारक भाव मानने में तो अंगभूत या उपकारक रस की स्व-चमत्कार में विश्रान्ति नहीं हो सकती है, अतः वह रस नहीं कहला सकता है। रस वह तभी होगा। जब स्वचमत्कार में ही उसकी विश्रान्ति हो जाए। उस दशा में वह किसी दूसरे का अंग नहीं हो सकता है इसलिए रसों में अंगागीभाव सम्भव नहीं है।
- 2) विरोधी रसों की अंगता कैसे मान्य सकती है? विरोधी दो प्रकार का होता है। (क) सहानवस्थानभाव से तथा (ख) बाध्य-बाधक भाव से सहानवस्थान भाव से विरोध का अर्थ यह है कि दो विरोधी रस समान रूप से एक साथ नहीं रह सकते। बाध्य-बाधकभाव का अर्थ यह है कि एक रस का उदय होते दूसरे रस का स्वयं विघात हो जाता है, जैसे-वीर, और शृङ्गार, शृङ्गार और हास्य, रौद्र और शृङ्गार, वीर और अद्भुत, रौद्र और करुण तथा शृङ्गार और अद्भुत आदि रसों का विरोध सहानवस्थानभाव से है अर्थात् ये दोनों साथ-साथ तो रह सकते हैं, किन्तु दोनों का समान उत्कर्ष नहीं होना चाहिए। अतः इनका विरोध अधिक उग्र नहीं है। और उसी अनुपात से इनका अङ्गाङ्गीभाव भी दुस्साध्य नहीं है; किन्तु शृङ्गार और वीभत्स का, वीर और भयानक का, शान्त और रौद्र का या शान्त और शृङ्गार का बाध्य-बाधकभाव से विरोध है। अतः इनका अङ्गाङ्गी सम्बन्ध कैसे हो सकता है।

आनन्दवर्धन को इन आक्षेपों का परिज्ञान है। सम्भवतः आक्षेपों का परिज्ञान है। सम्भवतः उनके समय में रसों के अङ्गाङ्गीभाव की विरोधी कोई परम्परा भी विद्यमान थी और इसका प्रमाण यह है कि भामह, दण्डी, रुद्रट आदि सभी ने महाकाव्यादि में रसों के समवेत वर्णन का उल्लेख किया है। किसी एक रस को अङ्गी बनाने की ओर किसी ने संकेत नहीं किया है—

भामह— ‘रसैश्च सकलैः पृथक्’

दण्डी— ‘रसभावनिरन्तरम्’

रुद्रट— ‘सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि।’

आचार्य आनन्दवर्धन ने रसों के अङ्गाङ्गीभाव से सम्बन्ध उपर्युक्त आक्षेपों का समाधान करते हुए भरत के मत की पुनः प्रतिष्ठा की है। पहले आक्षेप का उत्तर यह है कि प्रत्येक रस का अपने प्रसंग में पूर्वपरिपोष हो जाता और वह अपने प्रसंग की परिधि के भीतर स्वचमत्कार में ही विश्रान्ति लाभ करता है, इसमें सन्देह नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रबन्ध की विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल किसी रस का वर्णन स्वभावतः ही कम होगा और किसी का अधिक।

दूसरे आक्षेप का उत्तर यह है कि विरोध के शमन के अनेक उपाय हैं, जिनके द्वारा न केवल रसों का विरोध ही मिट जाता है; वरन् उनमें उपकार्य— उपकारक सम्बन्ध भी स्थापित हो जाता है। ये उपाय सामान्यतः तीन हैं—

1. एक रस के अङ्गी होने पर उसके प्रतिरोधी रस का अत्यन्त (अङ्गी की अपेक्षा अधिक) परिपोष नहीं करना चाहिए।
2. अङ्गी रस के विरुद्ध व्यभिचारी भावों का अधिक निवेश न करना अथवा निवेश करने पर शीघ्र अङ्गीरस के व्यभिचारीरूप में परिणत कर देना।
3. अङ्गभूत रस का परिपोष करने पर भी बार—बार उसकी अङ्गरूपता का ध्यान रखना।

इस प्रकार आनन्दवर्धन के मत से रसों के अङ्गाङ्गी या उपकार्य—उपकारक सम्बन्ध भी कल्पना सर्वथा मान्य है। अभिनवगुप्त ने भी ध्वन्यालोक के प्रस्तुत प्रसंग की व्याख्या में एक प्राचीन आचार्य भागुरी मुनि का प्रमाण देते हुए रसों के अङ्गाङ्गीभाव का समर्थन किया है—‘तथा च भागुरिरपि किं रसानामपि स्थायिसञ्चारितास्तीति आक्षिप्याभ्युपगमे नैवोत्तरमवोचद् बाढमिति।

इसके उपरान्त परवर्ती सभी आचार्यों ने प्रबन्धकाव्य में अङ्गी रस की स्थिति का निश्चयपूर्वक कथन किया है। वस्तुतः प्रबन्ध काव्य में अङ्गी रस की स्थिति सर्वथा स्पष्ट एवं असन्दिग्ध है। जीवन के वैविध्य एवं सर्वाङ्ग चित्रण के कारण प्रबन्ध काव्य में स्वभावतः ही विभिन्न रसों का वर्णन अनिवार्यतः रहता है और यह भी स्वाभाविक है कि उनमें एक प्रकार का तारतम्य तथा अङ्गाङ्गी हो। जिस प्रकार अनेक कथाओं के रहते हुए काव्य में एक कथा की अधिकारीकता अनिवार्य है अथवा घटना बाहुल्य के रहते हुए भी समस्त कथा विधान कि एक रसानुभूति के चार मानसिक अवस्थाएं विकास विस्तार क्षोभ और विक्षेप है।

## बोध/अभ्यास प्रश्न

### I. बोध प्रश्न—

1. चार पुरुषार्थ लिखिए ।
2. “एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्” पङ्क्ति किसकी रचना में है?
3. दशरूपक किसकी रचना है?
4. रसानुभूति का चार मानसिक अवस्थायें?

### II. अभ्यास प्रश्न

1. रसानुभूति का परिचय लिखिये।
2. रसानुभूति की परम्परा का परिचय लिखिये।
3. सात्विक रस का परिचय लिखिये।

## 11.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने अध्ययन किया कि — 16वीं शताब्दी में भारतीय वाङ्मय में भक्ति काव्य का प्रचुर विकास हो जाने पर वैष्णव आचार्यों ने भक्ति रस की प्रतिष्ठा ही नहीं की अपितु उसे ही मूल रस घोषित किया। भक्ति एक स्वतन्त्र रस है। इस धारण के सर्वाधिक पोषक आचार्य है। वैष्णव आचार्यों ने भक्ति को ही मूल रस या रसरस कहकर उसकी व्याख्या प्रस्तुत की; किन्तु अलङ्कारशास्त्र के प्रायः आचार्य इसे भाव मानने के पक्ष में ही हैं। मम्मट तथा विश्वनाथ ने तो भक्ति को देवविषयक रति स्वीकार करते हुए रस न कहकर भाव ही कहा। पण्डितराज जगन्नाथ भी इसे रति का ही एक रूप स्वीकार कर स्वतन्त्र रस मानने के पक्ष में नहीं हैं। यहाँ यह कहा जा सकता है कि वैष्णव भक्तों ने शुद्ध साम्प्रदायिक दृष्टि अपनाकर ही भक्ति को मूल रस कहा है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से आचार्यों ने यदि देवताविषयक रति को ‘भाव’ कहा है तो इससे भक्तिकाव्य की अवहीनता नहीं समझनी चाहिए। यह तो केवल एक शास्त्रीय परिधि एवं मर्यादामात्र है। भक्ति को रस मानने का आग्रह विद्वानों द्वारा शायद इसीलिए किया गया हो कि इसे ‘भाव’ मानने का तात्पर्य है कि भक्तिकाव्य आह्लादक नहीं है; किन्तु ऐसी बात नहीं है शास्त्रीय परिधि में भाव भी एक विशिष्ट काव्यतत्त्व है, जिसका स्थान रस के समीप ही है। आनन्दवर्धन के मत से रसों के अंगांगी या उपकार्य—उपकारक सम्बन्ध भी कल्पना सर्वथा मान्य है। अभिनवगुप्त ने भी ध्वन्यालोक के प्रस्तुत प्रसंग की व्याख्या में एक प्राचीन आचार्य भागुरी मुनि का प्रमाण देते हुए रसों के अंगांगीभाव का समर्थन किया है।

इन सबका वर्णन इस इकाई में किया गया है।

## 11.4 शब्दावली

| शब्द           | अर्थ           |
|----------------|----------------|
| ‘रसैः’         | रसों के द्वारा |
| च              | और             |
| पृथक्          | अलग            |
| रसभावनिरन्तरम् | निरन्तर रसभाव  |

|               |                 |
|---------------|-----------------|
| सर्वे         | सभी             |
| क्रियन्ते     | करते हैं        |
| काव्यस्थानानि | काव्यस्थानों को |
| सर्वाणि       | सभी             |

रसानुभूति की चार  
मानसिक अवस्थायें—  
विकास, विस्तार,  
क्षोभ और विक्षेप

### 11.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, उमाशंकर शर्मा ऋषि, चौखम्बा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी
2. काव्यप्रकाश, आचार्यविश्वेश्वर, चौखम्बा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी
3. वैदिक साहित्य, कपिलदेव द्विवेदी, चौखम्बा विश्वभारती प्रकाशन वाराणसी

### 11.6 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर—

#### I. बोध प्रश्नों के उत्तर

1. धर्म , अर्थ, काम , मोक्ष
2. भवभूति
3. धनंजय
4. विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप

#### II. अभ्यास प्रश्न

इन प्रश्नों के उत्तर विद्यार्थी स्वयं लिखेंगे।

ignou  
THE PEOPLE'S  
UNIVERSITY

